बिखरे विचार

लेखक
घनश्यामदास बिड़ला

मिलने का पता
सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली
शाखायें—दिल्ली : लखनऊ : इन्दौर

प्रकाशक

श्यामलाल एम० ए०

हरिजन निवास, किंग्स्वे, दिल्ली

संस्करण

मार्च १९४१ १०००

मूल्य 5/-

जिल्दबँधी—[redacted] रुपया

सादी—[redacted] रुपया

मुद्रक

देवीप्रसाद शर्मा

हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस, नई दिल्ली

दो शब्द

श्री घनश्यामदास बिडला की लिखी हुई दो पुस्तकें "बापू" और "डायरी के कुछ पन्ने" हिन्दी-संसार में आ चुकी हैं। "बिखरे विचार" बिड़लाजी के कुछ व्यक्तिगत पत्रों तथा उन लेखों का संग्रह है जो समय-समय पर "विश्वमित्र", "त्यागभूमि", "विशालभारत", "हरिजन-सेवक", "सरस्वती", "बिड़ला कालेज मैगजीन" आदि पत्र-पत्रिकाओं में आज से कुछ वर्ष पहले प्रकाशित हो चुके हैं—अन्तिम लेख "हीरा" इसी वर्ष की ताजी रचना है। उनके कुछ लेख ढूँढने पर भी नहीं मिल सके। बिड़लाजी की एक अपनी शैली और विचारधारा है। "देखत में छोटे लगें घाव करें गंभीर"—थोड़े शब्दों में मर्म की बातें कहना उनकी शैली का विशेष गुण है।

उनके दो लेख "मुझसे सब अच्छे" तथा "पानी में भी मीन पियासी" हिन्दी-संसार में काफी प्रसिद्ध हैं और बहुत-सी पाठ्य पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं में उद्धृत हो चुके हैं।

प्रकाशक

विषय-सूची

यात्रा-सम्बन्धी

महात्माजी-सम्बन्धी

बिखरे-विचार





लेखक · गांधीजी के साथ
(घूमते समय)

बिखरे विचार

यात्रा-सम्बन्धी

१. पिलानी—कलकत्ता—दिल्ली
२. स्टीमर मे
३. हम पराधीन क्यो हैं ?
४. मार्सेल्स से जेनेवा
५. भीषणकाय लन्दन ?
६. जर्मनी में
७. पश्चिम-पूरब

: १ :

पिलानी-कलकत्ता-दिल्ली

अबकी बार पिलानी से कलकत्ते के लिए प्रस्थान किया तो मन मे आया कि इस दफा नये रास्ते से चलना चाहिए, तदनुसार नारनौल के स्टेशन होकर जाना निश्चय हुआ। रास्ता अच्छा था। नारनौल प्राय ढाई घटे मे पहुँच गये। मन मे आया, यदि रास्ता मिल जाय तो रेवाड़ी पहुँचें, और फिर वहाँसे भी रास्ता मिल जाय तो सीधे दिल्ली मोटर से पहुँच जायें। दर्याफ्त करने पर लोगो ने कहा कि रेवाडी तक शाही रास्ता है। हमने पक्का निश्चय कर लिया, किन्तु लारी अबतक पीछे ही थी। हमने सोचा १० मिनट मे पहुँच जायगी। १० मिनट बीते, २० मिनट बीते, ३० बीते, परन्तु मोटर दिखाई न दी। रेवाड़ी का विचार तो अपने आप

स्थगित हुआ। अब चिन्ता हुई कि कही रेल भी न छूट जाय। इतने मे गाड़ी आ पहुँची; परन्तु लारी फिर भी नदारद। बच्चन ड्राइवर को मन मे कोसा, किन्तु कोसने से क्या होता था? लारी तो न आई, और गाड़ी छूट गई। आखिर सवा घंटे बाद अपने अन्दर पड़े हुए असबाब को लेती हुई लारी पहुँची। विलम्ब का कारण बताया गया टायर का फटजाना। मन मे विचार किया, फूट ही खराब करती है। सवा घटे का विलम्ब केवल टायर के पचर के कारण! बच्चन पूज्य मालवीयजी का भी ड्राइवर रह चुका है। वहाँ जब मालवीयजी को इसने बेचैन किया तब उन्होने इसका त्याग किया। किन्तु बच्चन से पूछो तो शायद अब भी यही समझता हो कि मालवीयजी ने उसे त्यागकर एक अमूल्य रत्न खो दिया।

अब दिल्ली कैसे पहुँचे, यह चिन्ता हुई। एक मालगाड़ी रेवाडी जाती थी। अंग्रेज डी० टी० एस० जो नारनोल आया हुआ था, उसे जब पता लगा कि मै असेम्बली और रेलवे फाइनेन्स कमेटी का मेम्बर हूँ तो उसने मुझे मालगाड़ी में जगह दे दी। मालगाड़ी में बैठने की जगह तो होती नही, इसलिए बैठने को कुछ कुर्सियाँ भी दी।

यह मेरा नया ही अनुभव था। मालगाड़ी जब चलती तो अच्छी कसरत-सी हो जाती थी। रेवाड़ी तो किसी तरह

पहुँच गये, किन्तु दिल्ली कैसे पहुँचें, यह चिन्ता हुई। रात को कोई गाडी दिल्ली नही जाती थी। स्पेशल के लिए पूछा, किन्तु कहा गया कि इजन तैयार नही है। रेल के कर्मचारी चाहते थे कि किसी भी तरह कुछ मेरी सेवा कर दें, किन्तु कर न सके। आखिर रात-भर रेवाडी में ठहरना पडा और कलकत्ते की यात्रा एक दिन के लिए स्थगित रक्खी गई। कहाँ तो मोटर से सीधे दिल्ली पहुँचने का विचार और कहाँ रातभर रेवाड़ी में पड़े रहना। इसी को कहते हैं, मनुष्य सोचता कुछ है और होता है कुछ और—'Man proposes and God disposes.'

× × ×

कलकत्ते से प्रस्थान किया तो लोगो को ऐसा लगा मानो मैं सीधा जेनेवा जा रहा हूँ। स्टेशन पर अच्छी भीड थी। फूलो का खासा दुरुपयोग किया गया। मुझे भी वियोग की-सी झलक मालूम दी। मैंने सोचा कि चार महीने का वियोग इस तरह से खटकता है तो ससार से जब लोग विदा होते हैं तब मन में न मालूम क्या-क्या भाव उठते होगे। किन्तु इसका उत्तर कौन दे? मैंने तीन आत्माओ की अन्तिम विदाई देखी है। दो को तो अन्त समय तक पता न था कि उन्हे इस संसार को छोड़ना है, एक ने शान्ति से विदाई ली। ये तीनो मित्र आज भी मेरे हृदय

पर गहरे अंकित है और मुझे निरन्तर शान्ति देते है । मैने अपने मन में उन तीनो से उनकी मृत्यु के बाद पूछा, "तुम्हे क्या हो गया ? तुम्हारी गति थम क्यो गई ? थोडी देर पहिले तुम्हारा शरीर हिलता था, अब यकायक मशीन बन्द क्यो हो गई ?" उन्होने कोई उत्तर नही दिया, किन्तु उनकी निश्चेष्ट शान्त प्रकृति ने स्पष्ट कहा—

पीपल पान खरंता हँसती कूंपलियां ।
मम बीती तुझ बीतसी धीरे बापुड़ियां ।

× × ×

बात मर्म की थी ।

कलकत्ते से गाडी छूटी उस समय गर्मी खासी पडती थी । मुझे रेल मे प्राय नीद कम आती है, इसलिए मै तो रात मे पढने की तैयारी करने लगा । ब्रजमोहन को सो जाना अभीष्ट था । परन्तु ब्रजमोहन ठहरे अमीराना खानियत के आदमी । जबतक पखा उनकी ओर अपना मुंह फेरकर हवा न दे तबतक उनको नीद कैसे आवे ? बस उठे, एक पखे को तो उसका कान ऐठकर अपनी ओर फेर लिया, किन्तु दूसरे पखे ने जरा हुकुम-अदूली की । बस फिर क्या था, दोनो में कुश्ती शुरू हो गई । पखे ने साफ जवाब दे दिया कि हम किसी का पक्षपात नही करते, केवल तुम्हारी तरफ मुंह फेरकर हवा देना, यह गुलामी हमसे न होगी । किन्तु

कोई सुनाई नही हुई। आखिर उसने बेकाम बनकर अपनी शान रख ली। मैंने सोचा, चलो, अब शान्ति से पढ़ेंगे। ब्रजमोहन अपनी हार मानकर सो गया। किन्तु रात को जब-जब मैंने स्विच खोलकर पखे से पूछा, "पखे, तुम्हारा क्या हाल है ?" तो उसने कराहते हुए अपनी करुण कहानी मुझे सुनाई। मुझे निश्चय है कि पखे ने ब्रजमोहन पर मारपीट का मुकदमा दायर न करके अपनी उदारता का परिचय दिया। सुबह होते ही ब्रजमोहन ने पंखे से फिर छेड़छाड की। मैंने कहा कि अब गरीब को न सताओ। किन्तु ब्रजमोहन कब मानता था—स्टेशन-स्टेशन पर रेल-कर्मचारियो से कहता आया कि देखिए, पखा विगड गया है। यह किसी से न कहा, "मैंने पखा विगाड़ दिया है।"रेल के मिस्तरी आये और गये, किन्तु पखा टस-से-मस न हुआ। मैंने पंखे की दृढता पर उसे बधाई दी।

आखिर उसने अपनी टेक और इज्जत रख ली।

× × ×

प्रात काल गाडी दानापुर पहुँची। सब लोगो की निद्रा भग हुई। उठते ही ब्रजमोहन ने शिकायत की कि रात को उसकी आँख मे इजन के कोयले का टुकडा गिर गया। मास्टर श्रीरामजी ठहरे आयुर्वेदाचार्य। बात-की-बात मे अनेक उपचार बताये गये, किन्तु दस बजे तक आँख मे

रजकण वैसे ही बने रहे। मुझे भी पता लगा। मैंने पूछा कि रात को गाडी के बाहर सिर क्यों निकाला था? उत्तर मिला, सिर तो नही निकाला। मैंने पूछा, "तो क्या आँखें खोलकर सोते थे जो ककरी गिर गई?" उत्तर मिला, "नही।" तब मैंने पूछा, "तो ककरी ने आँख मे प्रवेश कैसे किया?" कारण के अभाव मे कार्य का उत्पादन कैसे सम्भव है? इस न्याय से यह निश्चय हुआ कि आँख गरमी के मारे दुखने लगी थी और ककरी गिरने का केवल भ्रम था। गुलाबजल का उपचार किया गया, जिससे शीघ्र ही लाभ हो गया। इस सम्बन्ध मे एक मजेदार कहानी सुनाई गई। एक पडितजी थे। उनके तीन शिष्य थे—एक वैयाकरणी, एक वेदान्ती, और एक नैयायिक। एक रोज पडितजी ने तीनो की बुद्धि की परीक्षा लेना स्थिर किया। आप घर से बाहर चले गये। पीछे से वैयाकरणी आया। पडिताइन से पूछा, "पडितजी कहाँ गये?" पडिताइन ने उत्तर दिया कि पडितजी हाथी पर सवार होकर आकाश मे भ्रमण करने गये है। वैयाकरणी ने सोचा कि ठीक है। वाक्य मे कोई अशुद्धि नही है, इसलिए शका की कोई बात नही है। वेदान्ती आये। उन्होने भी यही प्रश्न किया और वही उत्तर मिला। सोचा कि माया प्रबल है। यह ससार माया से बना है, अघटित भी घटित हो सकता है। कोई

शका की बात नही है। नैयायिक आये। उन्होने भी पूछा और वही उत्तर पाया। किन्तु यह ठहरे तार्किक। उनको सन्तोष नही हुआ। उन्होने जिरह शुरू की—"हाथी पखो बिना कैसे उड सकता है? और विना उडे आकाश मे भ्रमण असम्भव है।" आखिर नैयायिक ने भ्रम को तोड़ा। हम लोग खूब हँसे और ककरी का उपचार वन्द करके आँख दुखने का उपचार प्रारम्भ किया।

इलाहाबाद में व्रजमोहन ने गड़ेरियाँ खरीदी। जब खाने लगा तो मास्टरजी ने कहा, "यह बड़ी बुरी चीज़ है, कफ पैदा करती है।" इतना कह कर सतृष्ण आँखो से गडेरियो की तरफ इस तरह ताकने लगे जैसे बिल्ली चूहे को देखती है। आखिर मास्टरजी के हाथ में स्फूर्ति आई और धीरे-धीरे हाथ से कुछ गड़ेरियाँ बटोर ली। मैंने उनकी ओर ताका तो मास्टर साहब की सतृष्ण आँखें सशक हो गईं। धीरे से आपने कहा, "पित्त के लिए ये बडी अच्छी हैं। मैं तो थोडी-सी खाऊँगा।" हम सब लोग हँसने लगे। गुरु की महिमा शास्त्रो मे अगाध कही है। "ऐसी करी गुरुदेव दया, मेरे भरम का भण्डा फोड़ दिया।" हमारे मास्टरजी का भण्डा तो रोज़ फूटता है।

कुछ लोग स्टेशनो पर सोडावाटर, वर्फ, लेमन पीते नज़र आते थे। मैं जब लोगो को परमात्मा के बनाये

विशुद्ध जल को विकृत करके पीता देखता हूँ तो मुझे मन मे आता है कि पानी के स्वाद की लोग पूरी क़द्र नही करना जानते। शायद लोगो में कला का अभाव है। पाठक जल को विकृत करके अपनी कला-विहीनता का परिचय न देंगे, ऐसी आशा है।

× × ×

एक नई बात यह देखी कि हमारे यात्रा-प्रदेश मे कुल तेतीस घंटे लगे, जिसमे साढ़े पाच घटे का दिन रहा, बाकी साढ़े सत्ताईस घटे की रात्रि रही। यह अजीब बात थी। इतने छोटे दिन भारतवर्ष मे और किसी स्थान मे नही होते। आपको शंका हो तो प्रमाण लीजिए। हम लोग फर्स्ट-क्लास के तीन यात्री थे, मै ब्रजमोहन और मास्टरजी। मै अपने आपको बाद दे दूँ तो बाकी के दोनो सुबह सात-साढ़े सात बजे उठकर पाखाना होकर साढ़े आठ बजे फिर सो गये, इसके बाद दस बजे उठकर ग्यारह बजे भोजन करके साढे ग्यारह बजे सो गये। शाम को साढ़े पाँच बजे उठे भोजन करके फिर आठ बजे सो गये और प्रात काल छ. बजे दिल्ली मे उठे। इस प्रकार वे तेतीस घटे में साढ़े पाँच घटे जागे, बाकी साढ़े सत्ताईस घंटे सोये। सच भी है—

यस्याँ जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।

मेरे जैसे भूतप्राणी जागते थे तब मास्टर साहब और

ब्रजमोहनजी जैसे मुनिजन सोते रहते थे। इन दोनो में भेद केवल इतना ही था कि ब्रजमोहन विरागासन में समाधि चढाये हुए थे तो मास्टर साहब कुक्कुट-आसन में समाधिस्थ थे। एक भेद और था, मास्टर साहब की समाधि सविकल्प थी तो ब्रजमोहन बाबू निर्विकल्प रूप मे समाधि में मगन रहे।

मई १९२७.

: २ :

स्टीमर में

हमारा स्टीमर कब चला और कब अदन पहुँचा, ये सब बाते करना समय नष्ट करना है । बहुत-से यात्रियों ने अपने भ्रमण के वृतान्तो मे भिन्न भिन्न स्थानो का, वहाँ के मकानों का और रीति-रस्मों का काफ़ी वर्णन कर दिया है, इसलिए मैं अपने भ्रमण-वृतान्त में उन बातो को बराबर बचाता जाऊँगा जोकि अन्य लोगो द्वारा पहिले बताई जा चुकी हैं । अदन पहुँचने में कोई उल्लेखनीय घटना नही हुई । समुद्र-यात्रा मे सबको कब्ज रहता है, यह प्रथम ही अनुभव था, फिर भी अँग्रेज़ लोग तो प्राय: पाँच बार खाते हैं । हम लोगों को तो दो बेर खाना भी अच्छा नही लगता था । निरामिषाहारी हिन्दुओ को अन्य हिन्दुओ की अपेक्षा

खान-पान के मामले मे अधिक कष्ट रहता है। मासाहारी तो अंडे आदि खाकर निर्वाह कर लेते है, किन्तु हम लोगो की खुराक ठहरी दूध और घृत। घृत तो साथ मे है, किन्तु दूध का नितान्त अभाव है। वोटवाले डिब्बे का दूध देते है. यह स्वाद मे तो दूध-सा ही होता है, किंतु तत्त्व मे काफी भिन्नता है। पकाने के लिए एक हिन्दुओ का और एक मुसलमानो का ऐसे दो अलग-अलग स्थान बना रक्खे है। किन्तु पकाने के स्थान मे गरमी इतनी अधिकता से पड़ती है कि पकानेवाले को अत्यन्त कष्ट होता है। जो ऐसे हिन्दू हो जिन्हे छुआछूत का विचार न रहता हो, किन्तु शुद्ध निरामिषभोजी ही रहना चाहते हो, उनको भी कष्ट है, क्योकि जहाज मे बना हुआ कोई भी ऐसा निरामिष भोजन नही है जो निरामिष होने के साथ ही पौष्टिक भी हो। हिन्दुओ की आवागमन की वृद्धि हो, इस हेतु भोजन की समस्या को हल करना आवश्यक है। किन्तु इसमे भी कठिनाइयाँ है। यात्रियो में अधिक लोग तो ऐसे ही होते है जो कष्ट पाने पर अंग्रेजी भोजन को अपना लेते है। जो निरामिप-भोजी है, वे भी जहाज की रोटी, मक्खन और मुरब्बे से निर्वाह कर लेते है। वहुत से लोग प्रान्त-सम्बन्धी विभिन्नता के कारण वे भोजन मे भी विभिन्नता रखते है। किसी को भात चाहिए, किसी को फुलके, किसी को

रोटी, तो किसी को पराठे। ऐसी हालत मे सबके लिए भोजन की एक विधि निश्चित करना बहुत मुश्किल काम है। ऐसे खानेवाले भी एक जहाज मे पन्द्रह-बीस से अधिक नही होते। साधारण लोग अपना नौकर रसोइया ले जायँ, यह तो साध्य नही है। इसलिए आम लोगों को सुभीता तो तभी हो सकता है जब दो पकानेवाले ब्राह्मण जहाज पर बराबर रहे और पूरी, रोटी, दाल, भात इत्यादि नित्यप्रति शुद्ध निरामिषाहारियो के लिए बना दे। जहाज में पाँच-सात गायो का भी रहना अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार की व्यवस्था होने पर आम लोगो को सुभीता हो सकता है। मैं इस सम्बन्ध में विलायत पहुँचने पर कम्पनी के मालिक इचकेप से बातें करूँगा।

भोजन के कष्ट के अलावा तो और यहाँ कष्ट नही है। जहाज की सफाई-सुघडाई, सोने-बैठने की व्यवस्था प्रशसनीय है। हाँ, काले-गोरे का भेद तो यहाँ भी है। भारतवासियो के साथ यद्यपि व्यवहार मे कोई त्रुटि नही है, तथापि जैसी नम्रता जहाज के नौकर अग्रेजो के प्रति दिखाते है, वैसी भारत के प्रति नही। हम लोग भी अपनी इज्जत का खयाल नही रखते। कपड़े पहनने, सफाई मे लापरवाही इत्यादि बातो से हमे भी बचना चाहिए। यह भी चाहिए कि हम लोग अग्रेजो की किन्ही त्रुटियो को न सीखे—चाय,

कॉफी, शराव आदि मौके वेमौके पीना, ताश, शतरज खेलना, पाँच दफे खाना, देर से सोना, देर से उठना आदि अग्रेजो के दुर्गुणो से वचना चाहिए। भारतवासी अधिक-से-अधिक तीन वेर से ज्यादा भोजन न करे, कम मात्रा में खावे, अधिक मात्रा मे पानी ही पीवे, समय से उठे और ठीक समय से सो जॉय, अधिक समय पढने-लिखने मे और जहाज पर टहलने मे लगावे और नई-नई वातो का अन्वेषण करे, यह वाछनीय है।

× × ×

अदन मे कोई उल्लेखनीय घटना नही हुई। मुझे दिल्ली में जुकाम हुआ था, जो अदन तक सताता रहा। अव तवियत अच्छी मालूम देती है। दो-तीन दिन के वाद तवियत विल्कुल दुरुस्त हो जायगी, ऐसी आशा है।

यहाँ विश्राम और शुद्ध वायु की खासी वहुतायत है और इसलिए स्वास्थ्य के लिए हितकर है। अलवत्ता कव्ज की शिकायत रहती है। आज हम लोग लालसागर में चल रहे है। लालसागर वहुत चौडा नही है—कभी कभी किनारे भी दिखाई देते है, किन्तु समुद्र के भीतर वहुत-सी चट्टानें स्टीमर के दोनो ओर दिखाई देती है। वडे-वडे पहाड भी है, किन्तु सूखे पहाडो मे न कोई जानवर, न पक्षी। न खाने का कोई सामान न पीने का। इसलिए सवके सव पहाड वीरान

हालत मे है। इस समुद्र का नाम लालसागर क्यो पडा, इसका पता कोई नही बता सकता। समुद्र देखने मे वैसा ही है जैसे और समुद्र। रग बिलकुल नीला है और जल बिल्कुल स्वच्छ।

जहाज पर बहुत-से परिचित यात्री है। कल एक पार्लमेण्ट के मेम्बर से जो बडा धनिक व्यापारी है, जान-पहिचान हुई। हिन्दुस्तान से लौटकर आ रहा था। भारतवर्ष वहाँ की स्थिति देखने गया था। बडे रद्दी विचारवाला आदमी था। मुझसे कहने लगा, तुमने असेम्बली मे एक शिलिंग चार पेन्स के पक्ष मे क्यो आन्दोलन किया? मैंने उसको बताना शुरू किया। पर बीच मे ही वह कहने लगा, सरकार ने जो कुछ किया अच्छा किया, किन्तु मै पूरा इतिहास नही जानता। मैंने कहा कि हमारा दुर्भाग्य है कि तुम अनभिज्ञ भी हो और हमसे बहस भी करना चाहते हो। मैंने उससे कहा कि मै आपसे कुछ सवाल करता हूँ, आप उनका उत्तर दीजिए। मैंने पूछा, "क्या आप कोई ऐसा देश बता सकते है, जहाँ रुपये का निर्धारित मूल्य इस तरह बदला गया हो?" उसने कहा कि एक शिलिंग चार पेस निर्धारित मूल्य नही था। मैंने कहा, यह आपका अज्ञान है, जो आप ऐसा समझते है। उसने कहा कि जब विनिमय की दर एक शिलिंग छ. पेंस थी तो फिर एक शिलिंग चार पेस क्यो की जा सकती थी? मैंने पूछा, क्या विलायत मे डालर-स्टर्लिंग एक्सचेज

जव नीची हो गई थी तव किसी ने नीची दर वाँवने के पक्ष मे राय दी थी ? मैंने फिर पूछा, "क्या आपको पता है कि एक शिलिंग छ पेंस कैसे वनाई गई ? भारतमत्री, और भारत-सरकार मे कैसे-कैसे तार आपस मे भुगते ?" उसने कहा कि मै कुछ नही जानता ? मैंने फिर पूछा, " क्या आपको पता है कि एक शिलिंग छ पेंस को टिकाने मे कितना सोना वेच डाला गया है ?" उसने कहा कि मै इन वातो को नही जानता। उसने वात को टालकर राजनीति पर वहस करना शुरू किया। उसने कहा, हम भारतवर्ष से काफी परेशान हो चुके है। मै जाकर विलायत मे सरकार को सलाह देने वाला हूँ कि चार साल के भीतर हिन्दुस्तान को खाली करदो और फिर हिन्दू-मुसलमानो को आपस में झगडने दो। मैंने कहा कि आपके विचार वडे विचित्र मालूम होते है। मुझे तो अग्रेज ऐसे मूर्ख नही मालूम होते कि भारतवर्ष को इतना जल्दी खाली करदें। उसने कहा कि हम अवश्य खाली कर देंगे और एक भी अग्रेज सिपाही भारतवर्ष में नही रहने देंगे, क्योकि अग्रेज सिपाही हिन्दुस्तानियो के पास रहना पसन्द नही करते। मैंने उससे कहा कि मुझसे जान लीजिए, मेरे यहाँ दस अग्रेज काम करते है और यदि मै चाहूँ तो एक सौ सत्तर और रहने को तैयार है। उसने पूछा कि अगर हम हिन्दुस्तान छोड दें तो

हिन्दू-मुस्लिम दगो का क्या हाल होगा ? मैंने कहा, दगे भी तो आप ही कराते है। आपके जाने के बाद कोई दंगा भी नही होगा। मैंने फिर कहा, देशी रियासतो मे दगे क्यो नही होते ? उसने कहा, देशी रियासते या तो हिन्दू राज है, या मुस्लिम राज, इसलिए दगे नही होते। मैंने कहा, अच्छी बात है। हम भी तुम्हारे जाने के बाद पंजाब और बगाल मे मुस्लिम राज और बाकी भारतवर्ष मे हिन्दू राज स्थापित कर देगे। उसने कहा, तुमने बडी अकलमदी की बात कही। बहुत देर तक बातें होती रही। आदमी धनी है और प्रभावशाली भी मालूम होता है। मुझे यह दिखाना चाहता था कि अग्रेज भारतवर्ष मे हमारी भलाई के लिए रहते है।

रात को सर कावसजी जहाँगीर मिले। कहने लगे कि तुमने मुझे सात लाख का घाटा दिला दिया। मैंने पूछा—कैसे ? कहने लगे कि तुमने मेरी 'डायमन्ड मिल' पचपन लाख मे खरीदकर फिर सौदा कैन्सिल कर दिया, फिर वही मिल अड़तालीस लाख मे बिकी। मैंने कहा कि मुझे इसकी कोई जानकारी नही। जयपुर के पुराने रेज़िडेन्ट कर्नल बेन भी इसी स्टीमर पर है। उनसे भी बहुत देर तक बाते हुई। महाराजा डगरपुर भी इसी स्टीमर मे जा रहे है।

मई, १९२७.

: ३ :

हम पराधीन क्यों हैं ?

जबसे जहाज पर पाँव रक्खा है तभी से मैं इस बात का मनन कर रहा हूँ कि हम इतने गिरे हुए, पिछड़े हुए, पतित और परतन्त्र क्यो है, और यूरोपीय लोग बढ़े-चढ़े, सुखी, सहृदय और स्वतत्र क्यो है ? हालाकि पन्द्रह साल से मैं अग्रेजो के सहवास मे हूँ, पर सिवाय मेरे जानकार लोगो के व्यक्तिगत गुणदोषो के, यूरोपीय जाति मे जातिगत गुण-दोष क्या है, इनका मुझे विशेष ज्ञान अब तक न था। इसका यह भी कारण है कि भारत मे हमारे शासकगण अपने ऐबो को तो अत्यन्त सावधानी से छिपाते ही रहते है, किन्तु अपने अच्छे गुणो को भी इसलिए छिपाते है कि जिसमे हम उनकी नकल करना न सीख ले।

उदाहरणार्थ, प्रत्येक आइरिश भारत मे अपनी देशभक्ति को इसलिए छिपाता है कि हम उसकी देखा-देखी देशभक्ति करना न सीख ले। कलकत्ते मे अंग्रेज लोग व्यापार में जिस प्रकार अपने इष्ट-मित्रो को सहायता देते है, उसका ज्ञान बहुत कम लोगो को है, अंग्रेज लोग उसे छिपाकर "वसुधैव कुटुम्बकम्" का पाठ इसलिए पढाते रहते है कि जिसमे हम उनकी नकल न करे और अपने इष्ट-मित्रो को ही अधिक सहायता देना अपना कर्तव्य न समझें। इन गुण-दोषो को छिपाने के लिए ही अंग्रेजो ने भारत मे अपने जुदे क्लब, आरामघर इत्यादि बना रक्खे है। किन्तु जहाज में पाँव रखते ही यह 'गोपनीय गोपनीय' की दीवार टूटने लगती है, और लन्दन पहुँचते-पहुँचते तो पर्दाफाश होकर अंग्रेज रहन-सहन, जीवन, आचार-विचार इतना स्पष्ट दीखने लगता है कि यदि तुलनात्मक दृष्टि से अवलोकन किया जाय तो हममें क्या कमी-बेशी है, इन सब बातो का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। हाँ, इसमें विवेक की तो आवश्यकता है ही। संभव है जिसे मै गुण समझूँ उसे दूसरे लोग दुर्गुण समझें। अछूतपन को जहाँ गांधीजी पाप समझते हैं, पुराने विचार के कट्टर लोग उसे ही हिन्दू-धर्म का आभूषण मानते है। अत पाठक भी अपनी विवेक-बुद्धि

से निरीक्षण-विवेचन करते जायें। आखिर मैंने सब कुछ अपनी बुद्धि के अनुसार ही तो देखा है। हाँ, जान-बूझ कर अपनी ओर से रग नही चढाया है। अस्तु,

जहाज मे मैंने अग्रेज महिलाओ को पहले-पहल नगे सिर देखा। मुझे यह तो पता था कि बाल काटने का फैशन अग्रेज औरतो मे भी आगया है, किन्तु सभी देवियो ने अपने सिर का बोझ हलका कर लिया है, इसका मुझे पहले-पहल जहाज मे परिचय हुआ। न जाने क्यो औरतो के मरदाने बाल और उनको स्वतन्त्रता से धूम्रपान करते देख मेरे चित्त में चोट लगी। यह चोट और भी दु ख देने लगी, जब मैंने कुछ भारतीय देवियो को भी कटे बाल और धुँए से आच्छादित पाया। दिन भर शराबखोरी, पाँच-पाँच बार का भोजन, रात मे नाचरग, पानी की जगह शरबत मिली हुई शराब, देर से सोना, देर से जागना, ताश खेलना और ऐशो-इशरत में डूबे हुए अग्रेज स्त्री-पुरुषो को देखकर बार-बार मेरे चित्त में यही संकल्प-विकल्प होने लगे कि क्या इस जाति का शीघ्र ही नाश होनेवाला है ? इनमे कौन-से गुण है, जिन्होंने इन्हे ससार का स्वामी बनाया ? "यतो धर्मस्ततो जय :" के चमत्कार का मै श्रद्धालु हूँ, किन्तु यहाँ तो जय होते हुए भी धर्म नही है, ऐसा मुझे विश्वास होने लगा। बार-बार

मुझे यह विचार आने लगा कि या तो मैं जो देख रहा हूँ वह सत्य नही है, या 'यतो धर्मस्ततो जयः' सत्य नही है; या हम दुःखी और ये सुखी नही, अथवा इनका पाप पाप नही और हमारा धर्म धर्म नही।

मैं स्टीमर पर रोज रातदिन इसी उधेड़-बुन मे लगा रहता था। महात्माजी को भी मैंने अपने संकल्प-विकल्प लिखे, अन्य मित्रो को भी लिखे। मै हठात् इस निर्णय पर पहुँच सकता था कि यह जाति तो मृत्युलोक मे नरक ला रही है। शीघ्र ही पृथ्वी इनके पापो के बोझ से दब कर देवताओ-सहित किसी कन्दरा में जा छिपेगी और वहाँ आकाशवाणी द्वारा श्री विष्णु भगवान् पृथ्वी सहित ऋषि-मुनि और देवताओ को आश्वासन देने जायँगे कि "हे पृथ्वी ! चिन्ता न कर, मैं शीघ्र ही काशी नगरी में अमुक ब्राह्मण के घर जन्म धारण करके तेरे भार को हलका करूँगा। जा, तेरा कल्याण हो ! और हे देवताओ, तुम भी काशीपुरी मे जाकर नाना रूप देह धारण करो और मेरे सहवास मे रहकर धर्मस्थापन करने मे सहायक बन कर कल्याण को प्राप्त होओ।" किन्तु मैं इस निर्णय पर कैसे पहुँचता ? जर्मन-युद्ध मे इन्ही शिखा-विहीन महिलाओ ने अपने ऐहिक सुखो को लात मार कर किस शौर्य और अदम्य उत्साह के साथ अपने देशी सैनिको की

सेवा करके उन्हे सुख पहुँचाया था, इस घटना को क्या कोई भूल सकता हूँ ? इतना ऐशो-आराम होते हुए भी आग्ल-जाति मौका पड़ने पर देश और जाति की मर्यादा के लिए किस प्रकार अपना सर्वस्व न्यौछावर कर सकती है, इससे मै भलीभाँति परिचित था। अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए अमीर-गरीब सब किस प्रकार मर-मिटने को तैयार है, इसका मुझे पूरा ज्ञान था। जहाँ भोग की लालसा और विषय सुख की तृष्णा की इनमे अधिकता थी, वहाँ शौर्य, उत्साह, धैर्य, सचाई हम लोगो से कही अधिक इनमे देखने मे आई। इसके विपरीत हम तो आज पूरे कायर बन गये है। बलवान् की चापलूसी करते है, गरीब पर जुल्म करते है। अपनी स्त्रियो की रक्षा और देश, जाति-धर्म के प्रति अत्याचारो का सामना करने की असमर्थता को हम 'क्षमा' का सुन्दर नाम देकर फूले नही समाते। अपनी अकर्मण्यता एव आलस्य का परिचय 'जो प्रभु कीन्हो सो भला कर मान्यो, यह सुमति साधु से पाई' नानकजी का यह सुन्दर पद गाकर देते है। जब अपनी कायरता को ढकना चाहते है तो 'नहि कोई वैरी नहि बेगाना, सकल संग हमरी बन आई' यह कहकर ससार को धोखा देते है। हमारा अपरिग्रह 'वृद्धा नारी पतिव्रता' की तरह रह गया है। इस हालत में मै कैसे

निर्णय कर लेता कि हम धर्म की वृद्धि कर रहे हैं और श्वेतांग लोग पाप की ?

परन्तु ये तो मेरी जिज्ञासा की शान्ति की बातें नही हुई। इस प्रश्न को मैं जहाज से उतरने के बाद भी रटता रहा कि हम क्यों गिर गये हैं, ये क्यो चढ़ गये हैं ? हमारी गीता के होते हुए, हम ऋषि-मुनियो की सन्तान होते हुए, हम आर्य हिन्दू होते हुए, हम राम-कृष्ण के उपासक होते हुए परतन्त्र क्यों हैं, दरिद्र क्यो हैं; और ये स्वतन्त्र क्यो हैं, सुखी क्यों हैं ? जब मैं इसी उधेड़-बुन में लगा हुआ था, मेरे एक परम सम्मानित बुजुर्ग नेता ने मुझे पत्र लिखा। पत्र बहुत लम्बा था; किन्तु साराश यह था कि "भारत के धर्म ने भारत का सत्यानाश कर दिया, हमारी क्षमा और अहिंसा ने हमें मेमने की तरह गरीब बना दिया; फलस्वरूप आज हमारे पाँवों मे परतन्त्रता की बेड़ियाँ पड़ी हैं, लोग दुःखी हैं, दरिद्र हैं। जहाँ तृष्णा नही, लोभ नही, उच्चाभिलाषा नही, वहाँ लोग क्या काम करेंगे, क्या साहस करेंगे ? गांधीजी ने भी लंगोटी और त्याग सामने रखकर जनता को कर्मण्य बनाने में सहारा नही लगाया। मेरे चित्त में तो यही आता है कि मैं देश की सामयिक स्थिति में विप्लव पैदा कर दूं। लोगो के सामने त्याग का ही

आदर्श न रखकर कुछ भोग का भी आदर्श रक्खूँ।"

जहाँ मैं पहले ही से उलझन में फँसा था, वहाँ इस पत्र ने मेरे सामने एक और नई पहेली रखदी। किन्तु मैं इस निर्णय पर नहीं पहुँच सका कि अहिंसा, वैराग्य, सन्तोष, क्षमा, अपरिग्रह इत्यादि उच्च आदर्शों के कारण ही हमारा देश गिर गया है, क्योंकि तब तो हमें एकबारगी ही इन आदर्शों का मूलोच्छेदन करके हिंसा, भोग, लोभ, क्रोध इत्यादि विरुद्ध धर्मों को इनके स्थान में प्रतिष्ठित कर देना चाहिए। किन्तु कौन-सा ऐसा प्रमाण है, जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि भारत की दुर्गति इन आदर्शों के कारण हुई ? बहुत-से मित्र गांधीजी की समालोचना में कहा करते हैं कि वैराग्य ने हमारे देश को तबाह कर दिया। किन्तु महाभारत-काल से यदि हम भारत के अधःपतन काल की शुरूआत समझें तो क्या कोई कह सकता है कि उस समय अहिंसा, वैराग्य, क्षमा का दौर-दौरा था ? लोग शराबी और ऐयाश बिल्कुल न थे ? यदि पृथ्वीराज के समय से भी भारतवर्ष का विशेष अधःपतन मानें, तो कोई यह नहीं बता सकता कि पृथ्वीराज ने कब त्याग, वैराग्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह को अपनाया था। उसके पीछे भी अबतक कब हमने वैराग्य, अहिंसा, सत्य, सन्तोष की उपासना की ?

हाँ, यह सत्य है कि भारतवर्ष के इस उच्च आदर्श के कारण हमारे यहाँ बड़े-बड़े अवतार, ऋषि-मुनि, वीर-धीर, विद्वान्, भक्त, ज्ञानी, संतोषी, ब्रह्मचारी होगये है, जिन्होंने भारत का मुख उज्ज्वल किया है। आज भी गांधीजी जैसे महात्मा और मालवीयजी जैसे क्षमाशील महापुरुष हमारे बीच में बैठे हैं, किन्तु इतिहास पुराणों का कोई भी पन्ना उलट के देखे तो कोई ऐसा समय नहीं मिलेगा कि जब भारत के सारे-के-सारे राष्ट्र ने अहिंसा या सन्तोष को राष्ट्र-धर्म माना या अपनाया हो। इस हालत मे इन उच्चादर्शों को कोसना, और हमारे अध.पतन का कारण मानना, गलत निदान है। असल बात तो यह है कि हम लोग भ्रम में पड़े है। हम अपनी अकर्मण्यता को सन्तोष, कायरता को अहिंसा, दरिद्रता को अपरिग्रह, भय को क्षमा, बाह्योपचारी रुढ़ियो को धर्म, अज्ञान को शान्ति, आलस्य को धृति मान बैठे है और इसीमे अपना गौरव समझते है। वास्तव मे हम तमोगुण मे डूबे पड़े है और पाश्चात्य लोग रजोगुण मे गोते खाते है। सतोगुण को न हम पा सके है, न पाश्चात्य लोग। भेद इतना ही है कि हमारे पूर्वज ऐसी सम्पत्ति छोड गये है कि उसके बल पर आज सत्व का गुणगान करते है। उसकी उपासना को श्रेष्ठ मानते है। इसके विपरीत पाश्चात्य लोग कहते

है कि सतोगुण किसी देश या जाति ने सामूहिक तौर पर नही अपनाया, न अपना सकते है, इसलिए उसे आदर्श मानने से कोई लाभ नही। सतोगुण की भूल-भुलैयाँ में पड़कर कही हमारे लोग तमोगुण मे न डूब जावें, इसलिए अच्छा यही है कि सार्वजनिक आदर्श 'युद्ध' ही रहे। हाँ, जो लोग व्यक्तिगत रूप से चढना चाहे वे 'मामनुस्मर युद्ध्य च' इस मन्त्र को मानें, किन्तु 'युद्ध्य' इस मंत्र को कोई न भूले।

आदर्श हमारा ऊँचा है, इसमें कोई सन्देह नही—पर साथ ही यह भी असन्दिग्ध है कि हममे आज सत्व और रज दोनो का अभाव है।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।

ये तमोजन्य सारे रोग हममे पाये जाते है और 'रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम्' और 'लोभ· प्रवृत्ति-रारम्भः कर्मणामशम. स्पृहा।' ये रजोजन्य सस्कार अग्रेजो मे पाये जाते है। जिस तरह गाधीजी कहते है कि यदि अपने धर्म की, मन्दिरो की, बाल-बच्चो की, देवियो की रक्षा हम अहिंसा से नही कर सकते तो कायरता से तो हिंसा अच्छी, उसी तरह यह भी क्यो न सिखाया जाय कि यदि सतोगुण प्राप्त करके 'सुखं संगेन बध्नाति' का

अमृतपान नही कर सकते तो तमोगुण से तो 'कर्म संगेन बध्नाति' ही अच्छा है ? तमोगुण का नाश यदि वांछनीय है तो उसका नाश तो हो, खाने को रोटी तो मिले, क्योंकि

'भूखे भगति न होहि गोपाला।'

हमारी यह दुर्दशा क्यों है ? इसका साधारण उत्तर तो इस तुलनात्मक विचार मे मिल गया। किन्तु हम पराधीन कैसे हुए और पाश्चात्य लोग स्वाधीन क्यों है, इसका उत्तर तो हमारी और उनकी मनोवृत्तियों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। राजा माँ-बाप है, प्रजा सन्तान है, यह कहानी हमें हजारों पीढ़ियो पहले से पढ़ाई गई। फल यह हुआ कि जो राजा वही माँ-बाप। देशी-विदेशी का भेद हमारे यहाँ कभी न रहा। पाश्चात्य लोगों को सभ्यता मिली स्वतन्त्रता के लिए मर-मिटने वाले रोम से। नतीजा यह हुआ कि जहाँ National (राष्ट्रीय), Patriotism (देशभक्ति), Democracy (प्रजातन्त्र), Public spirit (सेवाभाव), Citizenship (नागरिकता), Public duty (सार्वजनिक कर्तव्य) इन शब्दों का तात्पर्य वहाँ का बच्चा-बच्चा जानता है, वहाँ हमारे यहाँ इन शब्दो के अर्थ से आज भी लोग अनभिज्ञ है। जिन राणाप्रताप और शिवाजी की हम जयन्ती मनाते है, उन्होंने भी धर्म के लिए तो जहाद की, किन्तु देश के लिए किसी ने लड़ाई

नही लड़ी । इसी तरह धर्म के नाम पर मर मिटनेवाले तो भारत के इतिहास मे हजारो मिलेगे, किन्तु देश के लिए हड्डी देनेवाला दधीचि तो एक-आध ही मिलेगा। नतीजा वही हुआ जो होना था। पश्चिम से विजेता आते गये, और जो नया विजेता आया, हमने उसका सोने के थाल से स्वागत किया। इस तरह से हमने बहुत से विजेताओ को पचा भी डाला। किन्तु अन्त मे मन्दाग्नि से पीडित होकर स्वयं भी रोगी बन गये। आज भी देश में स्वराज्य की उत्कट चाह नही है, जब यह चाह उठेगी तब किसकी मजाल जो हमें परतत्र रक्खे ?

बस, हम परतत्र क्यो है, इसका उत्तर यही है कि हममे स्वतत्रता की उत्कट चाह नही है। हाल मे सहकारी भारत-सचिव अर्ल विन्टरटन ने अपने व्याख्यान मे कहा था कि भारतवर्ष बहुत सी बातो मे पिछडा है, इसका यह भी कारण है कि भारतीय सांसारिक द्रव्यो से विरक्त है। यह कथन असत्य नही है। हाँ, इतना जरूर है कि हमारा वैराग्य कायक्लेशभयात्यजेत् की बुनियाद पर रचा हुआ तामस त्याग है।

"जिन खोजा तिन पाइयाँ"—चाह उठने पर हम भी स्वतत्रता के लिए मर मिटेगे।

मई १९२७

: ४ :

मार्सेल्स से जेनेवा

हम लोग २० जून को सवेरे मार्सेल्स पहुँचे। चुकात-वालो ने पेटियाँ खुलवाईं, पासपोर्ट देखे गये; अन्त मे छुट्टी मिली। मार्सेल्स यों तो पुराना नगर है, पर साफ-सुथरा नही है। करीब नौ लाख की आबादी है। सड़क-मुहल्ले या तो कलकत्ता के चित्तरजन एवेन्यू जैसे या बम्बई के सैण्डहर्स्ट रोड जैसे है। मनुष्य, यद्यपि मार्सेल्स मे पैर रखते ही यूरोपियन-ही-यूरोपियन दिखाई देते है, किन्तु साफ कपडेवाले कम नज़र आते है। ज्यादातर कुली मैले कपडेवाले है। शरीर मज़बूत है—वैसे भले आदमी शौकीन तबियत के है। फ्रासीसियो की दाढ़ी प्रख्यात है। उसे ये लोग बड़ी सावधानी से रखते है। प्राय लोग बरामदो मे

बैठकर खाना खाते हैं। खाते समय हल्ला काफी मचाते हैं।

मार्सेल्स मे देखने लायक स्थान केवल नातरे दाम (Notre Dame) का मन्दिर है। यह मन्दिर प्राय चार सौ साल पुराना है। पहाडी की करीब २५० फीट ऊँची एक चट्टान है। उसपर पहुँचने के लिए लिफ्ट लगी हुई है। इतनी ऊँची लिफ्ट मैंने पहलेपहल देखी। चट्टान पर मन्दिर बना है। मन्दिर का गुम्वद भी शायद २५० फ़ीट ऊँचा बताते है। मन्दिर के सभा-मण्डप के भीतर मेरी की मूर्ति है—गोद मे बालक ईसा है। अपने मन्दिरो की तरह अन्धेरा भी गहरा था। मोमबत्तियो के प्रकाश से मूर्ति के दर्शन होते थे। अपने यहाँ दर्शनार्थी घी के दीपक जलाते है, वैसे ही यहाँके भक्त लोग एक-एक गज लम्बी मोमबत्ती खरीद कर मूर्ति के सामने उसका दीपक जलाते है। अपने यहाँ जैसे छत्र चढाते है, वैसे ही यहाँ भी भक्त लोग टाल पर अपना नाम लिखकर दीवार पर लटका देते है। हजारो टालें लटक रही थी। अपने मन्दिरो मे और इस मन्दिर मे मुझे कोई फर्क नजर नही आया। मेरे लिए मेरी की गोद में बालक ईसा मानो यशोदा मैया की गोद में कृष्ण के समान था। 'तुलसी मस्तक जब नवै, धनुषबाण लो हाथ', यदि तुलसीदास यहाँ आते और यह दोहा पढते तो अवश्य ही ईसा की यह मूर्त्ति माता कौशल्या की गोद मे

राम के आकार मे परिणत हो जाती। किन्तु यहाँ तुलसीदास कहाँ ? खैर, मैंने तो अपनी भावना की सृष्टि मे ईसा को कृष्ण के रूप मे परिणत करके शान्ति का अनुभव कर लिया। साथ ही अपने प्राचीन मन्दिरो की स्मृति भी हुई। लन्दन मे हमारा भी एक विशाल मन्दिर २५० फीट ऊँचा क्यो न हो, इसकी कल्पना मे मै गोते खाने लगा तो याद आया कि अच्छा मन्दिर दस लाख बिना नही बन सकता। परिस्थिति को समझ कर लम्बी साँस ली। इस मन्दिर की मूर्त्ति बड़ी मनोहर थी।

हमारे देश मे मन्दिरो पर तो लाखो रुपये खर्च होते है, किन्तु मूर्त्ति पर ध्यान कम दिया जाता है। जगन्नाथजी और द्वारका की मूर्तियाँ तो अपनी कला-विहीनता के लिए प्रख्यात है। बम्बई मे लक्ष्मीनारायणजी की मूर्ति यद्यपि बड़ी मनोहर है, किन्तु ऐसी मूर्तियाँ बहुत कम मन्दिरो मे है। यहाँ की मूर्ति मे तो कारीगर ने अपनी तमाम कला खर्च कर डाली है। पास मे ईसा की दो मूर्त्तियाँ और थी। एक सूली पर लटकते समय की, एक सूली से उतारे जाने के बाद की। दोनो मे सजीवता कूट-कूटकर भरी थी। सूली से उतारे जाने के बाद की मूर्ति को देखकर तो रोना आ सकता था। बाल बिखरे हुए, हाथ-पाँव में कीलें लगी हुईं, सारा शरीर लहू-लुहान, आँखे बाहर निकली हुईं।

दृश्य हूबहू था। नातरे दाम के मन्दिर की ऐतिहासिक घटनाओ के ज्ञान के लिए फ्रेंच विप्लव की कहानियाँ बहुत-कुछ प्रकाश डालती है।

मार्सेल्स से हम लोग जेनेवा रेल से चले। रेल के थर्ड क्लास के डिब्बे हमारे देश के सैकण्ड क्लास के डिब्बे से बुरे नही थे। किराया यहाँ के थर्ड का हमारे यहाँ के थर्ड से कम है। यहाँ का फर्स्ट क्लास हमारे यहाँ के फर्स्ट की तुलना में बिल्कुल रद्दी है। जेनेवा पहुँचने मे हमें दस घण्टे लगे, किन्तु थकान नही आई। दोनो तरफ हरियाली थी। खेती का तो क्या पूछना। भारत में तो ऐसी खेती हमने कही नही देखी। सीधी लाइन में व्यवस्थित रूप से बराबर फासले पर पौधे बोये जाते है। खेत क्या है, बगीचे है। खेत के बीच मे किसानो के रहने के लिए कोठियाँ है। ग्राम देखने के लिए तो हम शुरू से उत्सुक थे। रेल में बैठने के बाद बहुत-से ग्राम नज़र आये। किन्तु क्या हम उन्हे ग्राम कह सकते है? हमारे देश मे ऐसे ग्राम कहाँ? इन ग्रामो की तुलना भारतवर्ष के अन्धेरी, सान्ताक्रूज, बाँदरा इत्यादि बम्बई के निकटस्थ उपनगरो से की जा सकती है। भेद केवल इतना ही है कि भारत के इन उपनगरो मे धनी विराजते है, यहाँ के ग्राम गरीबो के है। साफ सडके, साफ छोटे-छोटे ठीक बम्बई के फैशन के बगले, मोटी-मोटी गाये, मोटे-मोटे

घोडो के हल, जगह-जगह सिचाई के लिए नदियो पर लगे हुए पम्प देख-देखकर अपने देश के दुर्भाग्य पर रोना आता था।

हमलोग देश की दुर्दशा पर विवेचना करने लगे। अपने दुर्गुणो पर विचार किया और इस निर्णय पर आये कि हम मे स्वार्थ-त्याग की कमी है। लालाजी (लाला लाजपतराय) ने प्रेम के आवेश मे हाथ उठाकर कहा कि हमारे देश मे केवल दो मनुष्य है—'गांधी और मालवीय।' मुझे जो रुचता था उसीकी वैद्य ने सिफारिश कर दी। गांधी और मालवीय का गुणगान करते-करते मै कभी नही थकता। लालाजी की निरभिमानता और सरलता ने मुझे मोहित कर दिया। मैने कहा, "लालाजी, इसके बाद नम्बर आपका है।" लालाजी ने कहा, "मुझे चाहे तीसरे नम्बर मे रक्खो चाहे पाँचवे में, मनुष्य देश मे दो ही है—नम्बर एक गाधी और नम्बर दो मालवीय।" गरीब बेचारे लालाजी! आजकल उनका स्वास्थ्य अच्छा नही रहता, यहाँ की हवा गतवर्ष उनके अनुकूल आई तो इस साल फिर दो महीने के लिए यहाँ आये। लालाजी का सारा जीवन देश-सेवा में बीता। घर छोड़ा, ऐश-आराम छोडा, शरीर का सुख छोडा, कमाई को स्वाहा किया, जेल भुगती, स्त्री के घन का भी हाल में ट्रस्ट बनाकर अन्तिम कौडी प्रसन्नता-पूर्वक दान करके अब पूरे भिखारी बन गये। रात-दिन

देश-सेवा के अतिरिक्त करते क्या है ? यहाँ भी वही धुन है। स्वास्थ्य के लिए विदेश चले आये तो मानो गजब कर दिया। समाचार-पत्रो ने डाँटना भी शुरू कर दिया। नेता लोग क्या ठहरे, मानो लोहे के चर्खे। चलाया जा सके इतना चला लो, टूटे तो चाहे टूटे। गाधी काम करते-करते गिर जायें, मालवीय मर जायें, किन्तु मरने के पहले कोई मत रोओ। पीछे तो स्मारक भी बने, सभा भी हो, वर्षी भी मनाई जाये, किन्तु जीतो की सुधि न लो। हाल मे गाधीजी का, मालवीयजी का स्वास्थ्य बिगडा तो किसी अखबार वाले ने यह नही लिखा कि इन थोड़े-से हड्डी-मासवाले शरीरो को कुछ विश्राम लेने दो। लालाजी ने विश्राम लिया तो ऊपर से डाँट मिली। इग्लैण्ड के मजूरदल के नेता रैमजे मैकडानल्ड का स्वास्थ्य थोडा-सा बिगड़ा तो हवा खाने बाहर भेजे गये। अब वापिस आये है। ट्रेड-यूनियन बिल के कारण मजूर-दल मे घोर अशान्ति है, किन्तु मजूर दलवालो ने अपने नेता से यह कह दिया कि आप अभी आराम कीजिए, आपका स्वास्थ्य ढीला है। यह भी देखिए और वह भी देखिए—आकाश-पाताल का अन्तर है। हमारे लोग जरा समझले कि गाधी, मालवीय और लालाजी को भी हमारी ही तरह मनुष्य-शरीर मिला है, जो एक हद तक ही काम कर सकता है। ये मरेगे तो सारा देश रोवेगा,

धाड मार-मारकर, आज ज़रा इन बेचारो के स्वास्थ्य की चिन्ता तो कर लो। हमलोगो मे से न्याय-बुद्धि चली गई है। देश के प्रति अन्याय, धर्म के प्रति अन्याय, जाति के प्रति अन्याय, नेताओ के प्रति अन्याय। जो न्याय नही देते, उन्हे न्याय नही मिलता। हमारी भी यही गति है।

कुछ जेनेवा की बाते लिख देता हूँ। यह स्थान अत्यन्त सुन्दर है, लेकिन काश्मीर से अधिक सुन्दर न होगा, यह मेरी धारणा है। दार्जिलिंग से कुछ अधिक सुन्दर है। दार्जिलिंग केवल पहाडी स्थान है, यह पहाडो के बीच समतल भूमि पर जेनेवा झील के दोनो किनारो पर बसा हुआ है। इस प्रदेश मे व्यापार अधिकतर झाडियो का, दूध का, होटलो का है। हवा खाने की जगह ठहरी। और अन्तर्राष्ट्रीय स्थान ठहरा, इसलिए दूर-दूर के लोग आते है। शहर मे बडे-बडे होटलो की भरमार है। सामने हिमाच्छादित आल्प्स पहाड दिखाई देते है। झील का पानी इतना स्वच्छ है कि जाड़े में पानी में तैंतीस फीट गहरी पडी हुई चीज दिखाई देती है। डाक्टरी परीक्षा में जेनेवा झील का पानी सर्वोत्तम ठहरा। भूख यहाँ पर खूब लगती है। दूध अत्यन्त शुद्ध और सुस्वादु है। घृत की कोई कमी नही है। भूख का कारण आवहवा और व्यायाम दोनो है। सर्दी साधारण है, किन्तु व्यायाम मे रुचि पैदा करती है।

व्यायाम का एक जबरदस्त साधन यह भी है कि यद्यपि सूर्योदय साढ़े चार बजे होकर सूर्यास्त आठ बजे होता है, तथापि सवेरे चार बजे से रात को नौ बजे तक सीधी रोशनी रहती है। अधिक उत्तर जाने से दिन बडे और रात छोटी होती जायगी। सुनता हूँ कि स्काटलैण्ड में आजकल एक बजे रात तक रोशनी रहती है और तीन बजे फिर रोशनी शुरू हो जाती है, यद्यपि सूर्योदय तो शायद चार बजे होकर सूर्यास्त नौ बजे होता होगा। अधिक रात तक रोशनी टिकने का कारण उत्तरी प्रदेश है।

जेनेवा में एक फव्वारा है, जो एंजिन-पम्प से चलता है। ढाई फीट मोटे पाइप में आता है, जो तीन सौ फीट पानी छोडता है। दृश्य देखने लायक है।

जून १९२७.

: ५ :

भीषणकाय लन्दन

जेनेवा से लन्दन की यात्रा हमने वायुयान द्वारा की। यह नया अनुभव था। नये-नये दृश्य देखने की लालसा थी, इसलिए हमारी मंडली मे अदम्य उत्साह था। किन्तु यह उत्साह अधिक देर तक न ठहर पाया। आकाश में बीस मिनट भी न रहने पायें थे कि सबको चक्कर आने लगे। हमारे एक-दो साथियों ने कै करते-करते विमान को भी दूषित कर दिया। मुझे भी ज़रा-ज़रा चक्कर आ रहे थे, किन्तु राम-राम करते किसी तरह लन्दन पहुँचे। जेनेवा से लन्दन करीब ८०० मील है। हम आकाश में कोई आठ घंटे रहे। साथियों को परेशानी इतनी हुई कि लन्दन पहुँचने पर किसीने भोजन तक न किया। कानों

के घोघाट ने तो बारह घंटे पीछे तक दिमाग को बेकार बनाये रक्खा। हवाई जहाज पर हम लोग बहुत-से शहरो पर से उड़ते हुए निकले। पेरिस को भी आकाश से देखा, किन्तु लन्दन के सामने तो सब छोटे है...।

नब्बे लाख मनुष्यो से गुंजारित इस घोसले को क्या उपमा दें? पृथ्वी फिरती है, इसपर लोगो ने सन्देह किया। किन्तु लन्दन फिरता है या नही, इसको लोग स्वयं आकर देखले। चर्खी के घोड़े पर चढनेवाले लड़के की तरह जिसने लन्दन मे पाँव रक्खा नही कि लगा उड़ने। राह चलते मनुष्य तो मानो दौडते है। रास्तो मे मोटरो का और मनुष्यो का इस तरह का ताता-सा लगा रहता है, मानो रात-दिन सड़को से कोई जलूस गुजर रहा हो। भीड़ पहले मैने इतनी कही नही देखी। इसपर भी हरएक चौरस्ते पर केवल एक पुलिस का जवान भीड़ को सम्हालता है। ससार की दौड की बाजी मे हम लोग कितने पिछड़ गये है, यह यहाँ आने पर प्रत्यक्ष होता है। ऊपर से हवाई जहाज, सडको पर मोटर और ट्राम, सड़को के नीचे बुगदे मे रेल—एक साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के लिए दो-तीन रास्ते, शहर के बीच मे बडे-बड़े बगीचे, आलीशान इमारते, साफ-सुथरी सडके, धन, बुद्धि, विद्या-बल, और यह सब कुछ लन्दन

में है, किन्तु तब भी लन्दन ने मुझे मोहित नही किया।

मै किसी समय नित्य-नियम से दुर्गा सप्तशती का पाठ किया करता था। किसी मित्र ने मुझे बताया कि दुर्गा सप्तशती का पाठ जितना ही मंगलकारी है, उतना अमंगलकारी भी है। शुद्ध पाठ किया तो ठीक, नही तो लेने-के-देने पड़ जाते है। उदाहरण स्वरूप यह भी बताया कि "भार्या रक्षतु भैरवी" के स्थान पर "भार्या भक्षतु भैरवी," ऐसा अशुद्ध पाठ करके एक भक्त को अपनी स्त्री के प्राण से भी हाथ धोना पड़ा था। मैने सोचा कि ऐसा देव मुझको फलप्रद नही होगा। जहाँ पाठ की अशुद्धि पर इतना क्रोध, वहाँ "प्रभु मोरे अवगुण चित न धरो" की पुकार किसके कानो तक पहुँचे ? लन्दन का भी यही हाल है। यहाँ 'निर्बल के बल राम' की कोई सुनाई नही है। "यो माम् जेष्यति संग्रामे स मे भक्तो भविष्यति", देवी की इस उक्ति को लन्दन बार-बार डके की चोट दोहरा रहा है। लन्दन लन्दनवासियों को चाहे मंगलकारी हो, किन्तु दूसरों के लिए मगल कहाँ ? संसारभर का धन चूस-चूस कर लन्दन दिन-दिन मोटा होता जा रहा है। यदि भारतवर्ष अपना पाट लन्दन की मार्फत जर्मनी को बेचता है तो अमेरिका भी अपनी चाँदी इसीकी मार्फत चीन को

भेजता है। मानो व्यापार का ठेका लन्दन ने ही ले रक्खा हो। किन्तु इतना होने पर भी लन्दन खूबसूरत शहर नही है।

ऐसे कई महल, मकान या गिर्जाघर है जिनकी ससार भर मे ख्याति है—जो साहित्य या इतिहास मे अमरत्व प्राप्त कर चुके है—पर जो वास्तव मे 'दूर के ढोल सुहावन' इस उक्ति को चरितार्थ करते है। धुवाँ और धूप से आच्छादित ९० लाख मनुष्यो की बस्ती का अन्धकारमय लन्दन अपनी बदसूरती से लोगो के चित्त में भय-सा पैदा करता है। बडो-बडो के दाँत खट्टे करनेवाला, फ्रास को समय-समय पर खिलौने की तरह खिलानेवाला, अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए मर मिटनेवाला, दिग्विजयी, एशियाई देशो का भाग्य-विधाता, ससारभर मे अपना सिक्का जमानेवाला, भयावना, भीषण लन्दन किसीके चित्त को मोहित नही कर सकता।

आजकल यहाँ रूस से खटकी हुई है, इसकी बडी चर्चा है, बुध को सूर्यग्रहण होगा, इसकी बडी चर्चा है, एक सोलह साल की लड़की ने सबको टॅनिस मे हरा दिया, इसकी बडी चर्चा है, सम्राट् के यहाँ परसो दावत मे किस किस देवी ने कौन-कौन से आभूषण पहने, इसकी बड़ी चर्चा है। किन्तु भारत मे भूख के मारे कितने मनुष्य

मरते हैं, इसकी कोई चर्चा नही। भारत की चर्चा कौन करे ? भारत शान्त है, चुप है, हिन्दू-मुसलमान झगड़ते है; सिर से बला टली, अपने दिन चैन से कटते है— चिन्ता किस बात की ? यहाँ की पार्लमेण्ट का मकान सात सौ साल पुराना है। अन्य सरकारी मकान भी सब पुराने है। सरकारी नौकरो को मामूली वेतन मिलता है। फिजूलखर्ची का नाम नही। क्यो ? इसलिए कि सरकार को प्रजा के सामने कौडी-कौडी का हिसाब देना पडता है। किन्तु भारत की ओर भी देखिए; नई दिल्ली के मकानो की ओर दृष्टिपात कीजिए; भारत-सरकार के शाही ठाट-बाट को देखिए। आकाश-पाताल का अन्तर है। किन्तु दस्तदाजी कौन करें ? यहाँ तो—

"हमें क्या बोलशेविज्म गया या रूस आता है,
यहाँ तो फ़िक्रे सरमाई कि माहे पूस आता है।"

कोई नगापन मिटने की औषधि बतादे, पेट भरने का उपाय बतादे, तो दिमाग़ मे सूझ पैदा हो, अन्यथा जहाँ रोने से फ़ुरसत नही, वहाँ सगीत कैसा ? रोम जलने लगा तो नीरो ने सारंगी की तान छेडी। आज चाहे लोग नीरो को धिक्कारें, किन्तु आज भी रोम जलता है और नीरो अपनी सारगी में मस्त है। किन्तु हम तो ऐंसे सहम गये है कि भूखें है, इसकी भी सुध हमे नही है। लोग

कहते है कि तुम भूखे हो, इसलिए हम भी कहते है कि हम भूखे है। हमें क्या पता कि हम वास्तव मे भूखे है !

जुलाई १९२७

: ६ :

जर्मनी में

मैंने यूरोप के बड़े शहरों मे लन्दन देखा, पेरिस देखा और र्बलिन देखा। मुझे कहने में कोई संकोच नही होता कि र्बलिन सबमे श्रेष्ठ है। लन्दन तो खूबसूरत शहरों मे नही गिना जा सकता; किन्तु लन्दन की खूबी, लन्दन की चहल-पहल में है। पेरिस में तीन-चार सड़के अत्यन्त सुन्दर है, बाकी नही। वहाँ के नाटक, खेल-तमाशे मशहूर है, इसीलिए मालूम होता है, पेरिस का नाम बहुत ज्यादा होगया; किन्तु र्बलिन सब मे निराला है। सुन्दरता तो कूट-कूट कर भरी है। सडको पर अधिक भीड नही है, क्योंकि रास्ते अत्यन्त चौडे और सीधे है। शहर में इधर-उधर घूमने के लिए नीचे जमीन के भीतर की रेल, जमीन

के ऊपर पुल बाधकर पुल पर चलनेवाली रेल, मोटर, बस, ट्राम, इत्यादि तो है ही, रास्ते के दोनो तरफ गाड़ी-घोड़े चलते है, बीच मे सडक के दोनो किनारो पर राहगीरो के लिए फुटपाथ बने है। बीच का फुटपाथ भी एक अलग सड़क समझिए जिसके दोनो ओर वृक्ष लगे है। मकान सब सुन्दर है। रास्ते इतने साफ है कि कलकत्ते के चौरंगी से बढकर नही तो समान ज़रूर है। चौराहो पर भीड़ को सम्हालने के लिए पुलिस नही खड़ी होती, लाल-हरी बत्ती दिखाकर भीड़ को सम्हालते है।

कैसर के महल देखें। भीतर सजावट अच्छी है, किन्तु इन महलो की अपेक्षा किसी किसी होटल मे सजावट अच्छी होती है। लोगो को आश्चर्य हो सकता है कि हमारे राजा-महाराजाओ की अपेक्षा इन सम्राटो के महल अधिक मनमोहक क्यो नही होते। लोग भूल जाते है कि हमारे राजा-महाराजा निरंकुश हैं, उनके काम की खबर लेनेवाला कौन है ? पर यहाँ तो पार्लमेण्ट रुपया मजूर करती है तब कही खर्च कर पाते है। नतीजा यह हुआ कि कैसर और पचम जार्ज के जो महल है, वे सब पुराने है, उनकी सजावट पुरानी है—करोडो रुपया यहाँ बात-बात मे खर्च होता है, किन्तु शाही महलो पर नही। हमारे राजा-महाराजाओ के यहाँ लाखो उनके स्नान-घरो पर खर्च

हो जाते है, किन्तु लोकोपयोगी कामो के लिए कुछ भी नही। इनके कुरूप महल इनकी शोभा है, हमारे सुन्दर महल हमारी शर्म है। मैंने कैसर के पुराने-नये सब महल, कोई भीतर से कोई बाहर से देखे। प्रायः साधारण है। कोई विशेषता नही, सो भी पचास-साठ वर्ष पहले के बने हुए है।

र्बालन का शाही पुस्तकालय देखा। पुस्तकालय का मकान १५ बीघे में बना है। १३ तल्ले का मकान है। कुल तीन लाख पुस्तकों का सग्रह है। सारा पुस्तकों से भरा है। सस्कृत और पाली की तमाम पुस्तके है। हस्तलिखित अनेक पुस्तके भारत से ला-लाकर रक्खी गई है। पुस्तकाध्यक्ष ने कहा—"हमारे पास गांधीजी के अग्रेजी गन्थ और उनके गुजराती ग्रन्थो के अनुवाद तो है, मूल गुजराती ग्रन्थ नही है।" मैंने कहा—"मै भिजवा दूँगा।" भारत मे अलवर, बीकानेर इत्यादि तमाम राज्यो की पुस्तको का सूचीपत्र इनके पास है। पुस्तकालय देखकर हम लोगो को अत्यन्त हर्ष हुआ।

जर्मनी के डाक्टर प्रसिद्ध है। मैंने एक विशेषज्ञ को बुलाकर सारे शरीर की परीक्षा करवाई। उसने मेरे मेदे मे से एक यंत्र द्वारा कुछ रस निकालकर उसकी परीक्षा की। अन्त में कहा कि मेरे तमाम अंग स्वस्थ है, कोई व्याधि

नही है, कभी-कभी बीच मे जुकाम हो जाता है, वह बदहजमी के कारण है। बदहजमी अधिक खाने के कारण है। उलट-पुलट करके मुझे देख लेना चाहिए कि कितनी रोटी, कितना दूध सहज मे पच सकता है और फिर उससे अधिक नही खाना चाहिए। मैंने अपने वैद्यो के पर्पटी के इलाज और २५ सेर तक दूध पिलाने की कथा कही। पहले तो उसने नही माना, फिर सारी बात समझने पर कहा—"महाशय, अपने वैद्यजी को यहाँ भेजिए। हम उन्हे सब तरह आराम देंगे, रोजी देंगे, सब सुभीता कर देंगे। हम जानना चाहते है कि वह यह कैसे करते है।" उन्हे यह क्या पता कि हमारे शास्त्रीजी गर्मी मे नंगे बदन, सर्दी में पतली बण्डी पहन कर चलते है। मैंने कहा—"इसका हम प्रबन्ध कर लेंगे।" ये लोग सीखने के लिए कितने आतुर रहते है, यह ध्यान देने की बात है।

हैम्बर्ग भी अत्यन्त सुन्दर है। यहाँ नई बात यह है कि एक सडक नदी की तह के नीचे है, जो पुल का काम देती है। शहर भी अत्यन्त सुन्दर है। मैंने जर्मनी के गाँव देखे, कस्बे देखे, शहर देखे। विद्या में, परिश्रम मे, व्यवहार मे, कला-कौशल मे ये जर्मन सर्वश्रेष्ठ है। धूर्तता मे, धन कमाने मे राजनीति मे, अग्रेज सर्वश्रेष्ठ है।

वीरता में, भलमसाहत में, सौन्दर्योपासना मे फ्रेंच सर्व-श्रेष्ठ है ।

और हमारे भारतवासी ? 'होइ हैं सोइ जो राम रचि राखा' को रोज कह लेते है; किन्तु हमारे ही कवियो का गाया हुआ 'दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति' किसी की जबान पर नही ।

फरवरी १९२८

: ७ :

पश्चिम-पूरब

इग्लैण्ड से अमरीका जाता हूँ तो मालूम होता है कि किसी दरिद्र स्थान से इन्द्रालय को जा रहा हूँ। इतना ऐशो-आराम, इतनी भोग की भूख तभीतक निभ सकती है जबतक कि खानेवाले थोड़े हों, खिलाने वाले असख्य। इन मुल्को मे यत्र का आविष्कार भी इसी सिद्धान्त पर हुआ है। हाथ की मेहनत से कहाँ तक पैदा किया जा सकता है? भूख की कोई सीमा नही है। हम दो सौ मुसाफिरो के लिए वहाँ कितना आयोजन है, कितनी जूठन रोज जाती है, कितनी सामग्रियो की नित्य बरबादी होती है! मनुष्य इतना कहाँ तक पैदा करता! अक्लमन्दो ने कहा—चलो, यत्र निकालो। यंत्र भी चलने

लगे, तो भी भूख न भगी। नतीजा यह है कि लाखो प्राणी यहाँ बेकार है; करोड़ो एशिया मे तबाह हो गये; किन्तु कुछ हजार की भूख ज्यो-की-त्यों जारी है। आदर्श भी उन्हीका है। लोग उनको गिराके खुद वहाँ पहुँचना चाहते है। कुछ लोग ससार को सुखी देखना चाहते हैं; किन्तु जबतक यह राक्षसी भूख है, तबतक ससार के लिए सुख मृग-तृष्णा है। किसी दंत-कथा मे यो कहा गया है कि जब रावण न मरा तो रामजी को विभीषण ने बताया कि रावण की नाभि मे अमृत-कुण्ड है,उसका शोषण कर लेने से उसकी मृत्यु हो सकती है। उसी प्रकार जबतक इन गोरो की भोगपिपासा पर कुठाराघात नही होगा, तबतक संसार का दु ख बना ही रहेगा।

सुनिए यहाँ की दिनचर्य्या—

सुबह ९ बजे उठे कि नाश्ता किया, दौड़े आफिस मे, वहाँ काम नही करना है, केवल हिसाब लगाना है कि आज कितने रुपये आगये। एक बजे लच, फिर वही आफिस। सात बजे भोजन; ८॥ बजे नाटक; ११॥ बजे व्यालू; फिर नाच; २ बजे शयन। यह साधारण दिन और रात्रि-चर्या है। शराब, धुवाँ, चाकलेट, चाय इसका जिक्र फिजूल है। लोगो में दिमाग है, मगर रात-दिन उससे यही काम लिया जाता है कि कैसे किसीको खा

जायँ ? दया है, सहृदयता है, किन्तु सब कुछ वातावरण से दूषित है। लोग निरे राक्षस नही है, किन्तु वातावरण के कारण उन्होने सिद्धान्तो मे और जीवन मे अन्तर बना रक्खा है। लोग सर्वनाश की ओर जा रहे है, ऐसा इन्हे पता भी नही है। यदि यह भोग-पिपासा इनकी मिट जाय तो वाकी साधना रह जाती है। एक अजीब मिश्रण है, जो मनन करने योग्य है।

मैने भर-पेट निन्दा की है, वह केवल उनके बुरे पहलू की बुराई है। अच्छाई भी खूब है। शौर्य है, दक्षता है, व्यावहारिकपन है, फुर्ती है, दया है, सचाई है।

यहाँ से मेरा मन पिलानी की ओर दौड़ता है। कोई नादान दोस्त मिलान करे तो कहेगा कि पिलानी तामस निद्रा में सोई है, लोग अज्ञान है, मूर्ख है, कायर है, गदे है। किन्तु ऐसी वात नही है। वात यह है कि आप खुर्दबीन लेकर ढूढेगे, तो वहाँ आपको काफी मसाला मिलेगा। दरअसल पिलानी ऊजड़ होती जाती है। न हीरा है, न डेडा है, न सुल्तान नीलगर है, न करीमखाँ है। और भी अनेक नाम गिना सकता हूँ, जो चले गये। उनकी जगह नई रोशनी के लोगो ने ले ली है। वड़वाली पिलानी की जगह कालेजवाली पिलानी या विड़लो की पिलानी बन गई है। जोहडो की जगह तालाव ने ले ली।

हमारे कई ऐतिहासिक ऊँट मर गये; कुम्मैत घोड़ी भी बूढ़ी हो चली। इनको तो हम याद करेंगे; किन्तु कितनी मोटरें टूटी हैं, इनका हिसाब भी नही है। माली बारा लेते थे तो मधुर गान गाते थे। अब रामेश्वरजी के पप ने खुमाणिए माली की अक्ल पर काफी आक्रमण किया है। अजब परिवर्तन हुआ है। रात को तिल के तेल की बत्ती मे पढनें का एक अजब मजा आता था। अब वह बात ही नही रही। कलकत्तें-वम्बई से हम लोग आते थे तो गागजी महराबखाँ की बूझ होती थी, अब अचानक आ धमकते हैं। पिलानी मे अवाछनीय चहल-पहल और काफी अशान्ति आगई है। खूब धक्का लगा है। पश्चिम की रोगीली हवा ने खूब धूम मचाई है। किन्तु फिर भी कितनो के स्तम्भ अटल खडे हैं, जिन पर कोई असर नही हुआ है। यदि असली पिलानी का मजा लेना है, तो उन्हीसे मिलिएगा। उनसे पुरानी बातें सुनिएगा तब पता लगेगा कि पिलानी कितनी उजड गई है। किसी जोगी को बुलाकर हीरराँझा सुनिएगा।

श्री ठाकुरजी के सामने जब स्वामीजी गाते थे—'एक नवल नार, करके सिंगार, ठाढ़ी अपने द्वार, पिया निकस बाहर एक पलक मार, मन मेरो हर लीन्हो।' वे इतना शुद्ध कभी नही गाते थे। काफ़ी अशुद्धियाँ होती

थी। तब मैं कलजुगी आदमी कहकहा मार कर हँस देता था। किन्तु स्वामीजी तो भजन गाते ही रहते थे। ग्यारस की रात और ठाकुरजी के सामने उन्हे रिझाने को, मुझे याद है, एक बार स्वामीजी ने गाया—

उड़रे हंस तुम जाओ गगन में,
खबरा लाओ मेरे प्रीतम की।
प्रीतम मेरा मैं प्रीतम की,
गांठा घुल गई रेशम की।

रामेश्वरजी नही समझे कि रेशम की गाँठ कैसे घुल गई? तो आखिर स्वामीजी से पूछ ही बैठे। मै उन दिनो भी कलजुगी था, इसलिए हँस पडा। पं० भोला-रामजी भी हँस पड़े; किन्तु स्वामीजी ने तो वहाँ भी राधा-कृष्ण का मेल मिला ही दिया। वह तो 'भजन' ही गाते थे। अब भी उन्हे "ढूडिये" और मुसलमान बीवी मे कोई फर्क मालूम नही देता।[१]

१ "ढूंडिये" या ढूंडिया राजपूताना में जैन साधुओं को कहते हैं। वे सफेद वस्त्र पहिनते है और मुंह पर भी एक सफेद पट्टी बांध लेते है। जिन स्वामीजी का जिक्र है वे एक मर्तबा दिल्ली आये तो उन्होंने एक मुसलमान औरत को बुरका पहने देखा। बुरका सफेद था। स्वामीजी समझे कि यह कोई "ढूंडिया" जैन साधु है। मैंने उन्हें कहा कि

डाक्टरजी है पुराने पापी। चाहे वह अपने मन से चालाक हो; किन्तु हम सभ्य लोगो के सामने खिलौना है। मै उन्हे जाट डाक्टर कहा करता हूँ। क्योकि ईश्वर की दया से उनमे सभ्यता नही आई है। गाय खुद दुहते है, छानी काटते है और रसोई भी बना लेते है। कभी-कभी औजार की कमी मे चाकू ही से काम ले बैठते है। हमारे देश मे गाधीजी जैसे जाट नेता और डाक्टरजी जैसे जाट डाक्टर ही सफल हो सकते है। हरदेवजी वैद्य के पिताजी जब मेरे दादोजी बैल की उपमा देते थे तो वह प्रसन्नतासूचक उद्गार किया करते थे। सागरमलजी वैद्य के पिता लगातार तीस दिन एक सेर घी हजम कर सकते थे। सरूपा खाती तो शायद जीवित है। हमारा सीता दर्जी है, जिसकी भैस की कथा रोचक है। न मालूम उसने मेरे कितने कपड़े बिगाड़े! उलहना देने पर कहता था कि बम्बई जैसा तो बना ही देता हूँ, हाँ, कलकत्ते जैसा नही बना सकता। सम्सिया धोबी भी ऐसी ही कुछ दिल दहला देनेवाली अद्भुत बात कर बैठता था कि फिर उलहना देना 'असम्भव-सा' हो जाता था। कितनी

स्वामीजी यह कोई मुसलमान बीबी है, पर स्वामीजी अपने हठ से नहीं डिगे। उन्होंने कहा, मुसलमान बीबियां क्या मैंने पिलानी में नहीं देखीं यह तो "ढूंढिया" ही है!

ओछी निगाह से ये आपकी सभ्यता को देखते थे, तभी तो बाल-बाल बचे।

सरेआम टाँग उठाकर अधोवायु छोड़ना तो इनके बाँये हाथ का खेल था। यहाँ तो यह हालत है कि डकार को भी रोकते है। नये लोग रास्ते मे बैठकर पेशाब करनेवालो को जी भर के कोसे, मगर उन्हे क्या पता, उनमे भी नागरिक कर्त्तव्यो को पहचाननेवाले पाँव से एक छोटी-सी तलैया बनाकर उसमे पेशाब करते थे और फिर उसपर पाँव से मिट्टी डाल देते थे। हाँ, जो लोग नादान थे, वे नाला बहाते थे। जैसा नाई मुण्डन ही जानता था। 'आगिया' निकालना उसे नही आता था। बँगला बाल तो चले भी नही थे। किसी नई रोशनीवाले ने (उस ज़माने के) आगिया बनवाना चाहा, तो जैसा ने कोयला लेकर पहले उसकी रूपरेखा खीची। ऐसे-ऐसे महारथी थे, जो अब नही रहे और चले जा रहे है।

मै पूछता हूँ, उन्होने किसका क्या बिगाड़ा था? किन मुल्को को तबाह किया था? कहाँ बेकारी फैलाई थी? फिर उन्हे क्यो गालियाँ देते हो? आप उन वृद्धो से मिलिएगा, जिन्हे सभ्यता की हवा न लगी हो। पिलानी उजड़ चली है। पाण्डेयजी का आक्रमण जारी है, किन्तु जो बची-खुची पुरानी सभ्यता है, उससे लाभ उठाइएगा।

मैं पुरानी बातो की याद करता हूँ तो हृदय मे गुदगुदी होने लगती है। सीच देता हूँ, सेंट जेम्स तक की हवा खा चुका, किन्तु मन अब भी वही जाता है। पिलानी से जब पुरानी पिलानी विदा ले लेगी, तब कुछ नही रहेगा। आपके भाग्य में बदा हो और देखने को मिले तो लडकी की विदाई का पुराना दृश्य देखिएगा। याद आता है, एक प्रहर का तड़का था और गर्मी का मौसिम। निस्तब्ध रात मे कोई लड़की विदा की जा रही थी। एक तरफ लडकी का रुदन, दूसरी ओर स्त्रियो का गीत—'ओलेंगडी लगायकं कोठे चाल्याजी।' तीसरी ओर ऊँटों का उगाल लेना एक अजब समिश्रण था, जो मोहक भी था। बचपन मे मुझे यह दृश्य इतना मजेदार लगा कि बडे चाव से मैं इसी साव मे कई वर्ष मग्न रहा कि कभी मेरे ससुरालवाले भी मेरे साथ मेरी धर्मपत्नी को इसी तरह विदा करेंगे। परन्तु उन भलेमानसों ने विदा किया तो दोपहर को, इसलिए सगीत का मजा जमा ही नही। किन्तु यह था उन दिनो जबकि एनीमा नही लेते थे। स्टार्च शीघ्र हजम होता है या दूध, इस उधेड़-बुन मे नही लगे थे। तराजू पर तुलना नही सीखा था।

पिलानी उन मीठे दिनों की याद दिलाती है जब हम स्वतन्त्र थे। जब लालसायें, आशायें सारी सामने थी।

कैसा मन मे आता है ! पिलानी पहुँच जाऊँ और फिर वैसा ही बन जाऊँ ! यह तो असम्भव है । मेरी अतड़ियो में भावुकता नही आई है कि विना एनीमा के भी काम दें । किन्तु बूढ़े लोगो से सुन-सुन के आप पिलानी को पहिचाने । आप ईंट, पत्थर, वृक्ष, मनुष्य सबसे मिले और पढ़ाने के साथ-साथ पढ़े भी उन्हीसे । कभी बारिये के पास बैठें तो कभी बूढे नाई से हजामत बनवायें; सीता से कुर्त्ता सिलवायें और रूपा से पढे ।

आपने कहा था कुछ लिखना, तो उमंग आगई । न्यूयार्क पहुँचते ही मै "तेल-तेल" चिल्ला उठूँगा । वहाँ मेरी भावुकता का खातमा हुआ ही समझिएगा । इतना लिखा तो सुख मिला ।

महात्माजी-सम्बन्धी

१. गाँधीजी के साथ १५ दिन
२. प्रेमी की व्याकुलता
३ मदिर-प्रवेश बिल
४ गाधीजी और अभिमान
५ शास्त्र भी और अक्ल भी
६. दरिद्रनारायण के मंदिर मे
७ आचार बनाम प्रचार
८. उत्कल में पाच दिन
९. हिन्दुओ को नैतिक चुनौती
१०. ईश्वर भजन और लोक-कल्याण

: १ :

गांधीजी के साथ पन्द्रह दिन

[१]

जगल की ओर से एक बैलगाड़ी को तेजी से दौड़ाते हुए तीन वृद्ध किसान आ रहे थे। गाधीजी को देखकर सहसा उन्होने गाडी रोकी। बड़ी फुर्ती के साथ अटपटे से एक के बाद एक ने उतरकर गाधीजी के चरणो में अपना सिर रखा और चुपचाप जैसे आये वैसे ही गाड़ी में बैठकर आगे चल दिये। न कुशल पूछी, न क्षेम। न अपना दु:खड़ा रोया, न आँसू बहाया। वे खूब जानते हैं कि गाधीजी का तो हरएक सास गरीब के लिए ही निकलता है, इसलिए कहे तो क्या और पूछे तो क्या ? उनके लिए तो मौन होकर सिर झुकाना ही काफी था। कोई पढ़ा-लिखा होता

तो छप्पन बातें पूछता, उलहना देता, समालोचना करता; किन्तु गरीब में इतनी कृतघ्नता कहाँ है ? वह तो दूर से ही दर्शन करके सन्तुष्ट होता है। यह तो अनेक घटनाओ में की एक छोटी-सी साधारण घटना है; किन्तु गरीबो के हृदयो मे गाधीजी का क्या स्थान है, कैसा सिक्का है, यह जानना हो तो ऐसे उदाहरण ही उपयुक्त है। बछडे की मृत्यु के बाद किसीने कहा था—"आज से महात्मा नही, मिस्टर गाधी कहो; अब तो गाधी का कोई दाम भी न पूछेगा।" किन्तु गरीब इस झमेले मे क्यो पडे ? अहिसा किसे कहते है और हिंसा किसे कहना चाहिए, यह तात्त्विक विवाद तो उन्हीको शोभा दे सकता है, जो कलाकन्द खाकर बिजली के पखे के नीचे लेट सकते हो। फुरसती आदमियो के लिए वेदान्त का यह तात्त्विक विवेचन जी बहलाने का एक अच्छा साधन साबित हो सकता है। किन्तु ऊँट को पापड से क्या काम ? आये साल अकाल और महामारी, न खाने को पूरा अन्न, न शरीर ढकने को वस्त्र, जमीदार की ज्यादती, साहूकार की ज्यादती, और ऊपर से उपदेशको की हिमायत। उन्हे क्या पता कि गरीब को रोग रोटी का है, न कि धर्म का। सुदामा की तरह गरीब को ज्ञान नही चाहिए, रोटी चाहिए। गाधी ग़रीबो को उपदेश देने नही जाता, गाधी उनके हृदय मे प्रवेश करके गरीब

के दुःख से दुःखी होता है—गरीब बनके रहता है और गरीबो के लिए जीता है; यही कारण है कि गरीबो के हृदय पर गाधी का एकछत्र अधिकार है। भारत के एक छोटे-से-छोटे ग्राम में जाइए और पूछिए, गाधी कौन है ? तुरन्त उत्तर मिलेगा कि गरीबो का भला चाहने वाले। गाधी क्या पढे है, क्या लिखे है, क्या कहते है, यह उनके लिए व्यर्थ की चिन्ता है। गांधी बाबा अनाथों के, गरीबो के हितचिन्तक है, इसीमें उनके लिए गाधीजी की सारी जीवनी आ जाती है। चाहे यह जीवनी सूत्ररूप से हो, किन्तु ससार का अच्छे-से-अच्छा ग्रन्थकार इससे अधिक सपेक्ष में और क्या कह सकता है ? थोड़े-से लोग चाहे गाधीजी को गो-हत्यारा कह कर सन्तोष कर लें, किन्तु 'गाधीजी की जय' आज भी आकाश को कँपा देती है।

× × ×

आजकल गांधीजी वर्धा आये हुए है। वर्धा में जमनालालजी की प्रेरणा से श्री विनोबा ने एक सत्याग्रह-आश्रम खोल रखा है और गाधीजी वही ठहरे हुए है। गांधीजी क्या आये मानो घर में कोई बड़े-बूढ़े दादा आ गये हों। आश्रमवासी तो गांधीजी को बापू ही के नाम से पुकारते है, किन्तु बापू होने पर भी बच्चो के साथ गाधीजी बच्चो ही की तरह रहते है। खाना-पीना, काम-काज भी आश्रम

के नियमों के मुताबिक। आश्रमवासी शुद्ध घृत के अभाव में आजकल अलसी का तेल व्यवहार करते हैं। गांधीजी ने भी बकरी के दूध की जगह अलसी का तेल खाना शुरू कर दिया है। जमनालालजी को इस फेरफार की खबर मिलते ही चिन्ता शुरू हो गई। गांधीजी इस तरह के प्रयोग कर करके कहीं अपना स्वास्थ्य न खो बैठें, इस आशंका से जमनालालजी ने गांधीजी को समझाना शुरू किया। बहस हुई, झगड़ा हुआ; अन्त में जमनालालजी ने बल-प्रयोग किया—"बापू, आप यहाँ मेरी देखरेख में हैं; जैसा मैं कहूँ वैसा कीजिए। इन प्रयोगों के कारण आप यहाँ से बीमार होके जावें, यह मैं नहीं बर्दाश्त करने का।" "तो दे डालो नोटिस मुझे, यहाँ से चला जाऊँगा।" गांधीजी ने खिलखिलाकर कहा। जमनालालजी अब क्या कहते? चुप रहे। गांधीजी का हठ क़ायम रहा।

अग्रवाल-पंचायत ने जमनालालजी को जाति-बहिष्कृत कर रखा है। उनका सबसे बड़ा गुनाह यह बताया गया कि उन्होंने अस्पृश्यों के हाथ का खाया। जमनालालजी के कारण वर्धा में भी अग्रवालों में दो दल हैं। एक दल तो कट्टर पुराने विचार के लोगों का है, दूसरा दल भी यद्यपि पुराने विचारों का ही अनुयायी है, तो भी जमनालालजी को छोड़ना नहीं चाहता। जमनालालजी ने उन्हें समझाया

कि मुझे निबाहना कठिन काम है, इसलिए आप सामाजिक मामले में मुझसे मोह तोड ले। किन्तु जिनका प्रेम है, वे जमनालालजी को कैसे त्याग दे? एकदिन कुछ वृद्ध सज्जनो को अगुआ करके दूसरे दल की मडली जमनालालजी के पास पहुँची। "जमनालालजी विधवा-विवाह में शरीक होवे, अस्पृश्यो से छुआछूत न मानें, उनके लिए मंदिर खोले, इसमें तो हम शामिल है, किन्तु अस्पृश्यो के हाथ का खान-पान हमें भी नही रुचता। चाहे हमारे सन्तोष के लिए ही सही, क्या जमनालालजी हमे इतना विश्वास नही दिला सकते कि भविष्य में वह अछूतो के हाथ का पकाया नही खायेंगे? जब हम लोग इतने आगे बढ़ने को तैयार है, तो जमनालालजी हमारे सन्तोष के लिए थोडा-सा पीछे क्यो न हटे?" यह सक्षेप में उनकी दलील थी। जमनालालजी कहने लगे कि "आश्रम में तो सभी जाति के लोग रहते है, क्या मै आश्रम में खाने से इन्कार करूँ?" "आश्रम की कौन कहता है, यह तो पुण्य भूमि है; तीर्थस्थान के लिए कोई रुकावट नही। आप अन्य स्थानों पर ऐसा न करें, यही हमारी माँग है।" इस तरह से बहस होती रही। अन्त में तय हुआ कि गाधीजी के सामने मामला पेश किया जाय। दूसरे दिन वृद्ध लोगो का एक डेप्यूटेशन गाधीजी के पास पहुँचा। गांधीजी ने चर्खा चलाते हुए समाज के

अगुओं से बातें प्रारम्भ कीं। गांधीजी ने पूछा—"जमनालालजी अस्पृश्यो के हाथ का न खायें, इसमें आपको कौन सा डर है? समाज का या धर्म का?" एक वृद्ध ने कहा—"धर्म तो हम क्या समझें, समाज की रूढ़ि है कि ऐसा नही करना चाहिए। हम जमनालालजी की सब बातें मानते है, तो फिर हमारी इतनी बात जमनालालजी क्यों नही मानते?" गांधीजी ने कहा—"क्यों न मानें; किन्तु यदि रूढ़ि का जुल्म हो तो उस रूढ़ि का नाश कर देना चाहिए। प्राचीन काल में ऐसा रूढ़ि का बन्धन था, यह मै तो नहीं जानता। मै तो समझता हूँ कि जो स्वच्छ है, शराबी नही है, व्यभिचारी नहीं है, उसके द्वारा स्वच्छता से पकाया हुआ खाने योग्य पदार्थ हमारे लिए अवश्य भोज्य है। उनको यदि हम कहे कि तुम्हारे हाथ का हम नहीं खायेंगे, तो क्या हमारे साथ वे रहेगे? वे अवश्य हमारा त्याग कर देंगे। मै तो केवल उनकी धमकी से भी नहीं डरता, किन्तु यदि हमारे दोष के कारण वे हमारा त्याग कर दें तो मै उसे कैसे बर्दाश्त कर सकता हूँ? जो अपवित्र रहते है, मुर्दे का मांस खाते है, शराबी है, उनके हाथ का खाने को तो मै भी नही कहता। उनसे तो मै कह सकता हूँ कि पहले तुम अपनी बुराइयाँ दूर करो तो मै तुम्हारे हाथ का खाऊँ। किन्तु जो स्वच्छ है उनके हाथ का तो न

खाने से धर्म का नाश हो जावेगा । आपमें यदि साहस न हो तो आप ऐसा न करें । चाहे जमनालालजी को छोड़ भी दें । किन्तु आप जमनालालजी को आशीर्वाद तो दे, क्योकि वह तो धर्म ही के लिए ऐसा करते है । आप इनको क्यों पीछे हटाना चाहते है ? चाहे तो जमनालालजी से प्रतिज्ञा करालो कि जो शौचादि को न माने उस ब्राह्मण या अब्राह्मण किसीके भी हाथ का वे न खायें । किन्तु इससे थोड़े ही आपका काम बनेगा । आप तो पचो के त्रास से भयभीत है और इसलिए जमनालालजी से आग्रह करते है । मै यह कहना चाहता हूँ कि समाज को तो मै भी मान देता हूँ, हमें हर बात मे समाज से नही लड़ना चाहिए । किन्तु आज का समाज कैसा समाज है ? यदि गगोत्री मैली हो जाय, तो क्या फिर गगा का पानी स्वच्छ रह सकता है ? आज के पच पंच कहाँ रह गये ? पच तो गगोत्री है, और जैसे गगोत्री का पवित्र प्रवाह गगा में वहता है वैसे ही पच समाज को पवित्र प्रेरणा और न्यायबुद्धि देते है । किन्तु वर्तमान के पच तो राक्षसी है । आज के पच पाखंड से, स्वार्थ से, क्रोध से और द्वेष से भरे हुए है । मेरी तो यह भविष्यवाणी है । आप इसे मानिए कि आज के पचो का अन्याय हम नही मेट सके तो इस समाज का नाश हो जायगा । पच न्याय कहाँ करते है ? धर्म की बड़ी-बड़ी

बाते बनाने से न्याय नही हो सकता। वर्तमान के पाखंडी पंचों से तो डरना भी अन्याय है। उनके जुल्म का सामना करके मरना ही अच्छा है। पंच-गंगोत्री मैली हो गई है। इसे शुद्ध करने के लिए हरएक को मर मिटना चाहिए। यह धर्म के नाम पर पाप फैलाया जाता है। उसीका जमनालालजी सामना कर रहे है। उन्हें आप आशीर्वाद दे। आगे की पीढ़ी तो कहेगी कि जमनालालजी ने धर्म को बचा लिया। लाखो अछूतो को हिन्दू रख लिया। रावण के दस सिर क्या थे, यह तो उसकी दस तरह की दुष्ट बुद्धि थी। उसी दुष्ट बुद्धि का सामना विभीषण ने किया। आप यदि सामना नही कर सकते, इतना साहस नहीं है, तो जमनालालजी आपको नही कहते कि आप भी उनके साथ चले। जमनालालजी तो कहते है कि आप उनके साथ न चल सके तो उन्हें छोड़ दें, किन्तु आप उनका मोह क्यो करते है ? उन्हे भी अग्रवाल-समाज के सुधार का मोह छोड़ देना चाहिए। जो सन्यासी हो गया उसे कौन बाँधता है ? जमनालालजी का तो आज विशेष धर्म बन गया है। वह तो अब व्यापक समाज की ही सेवा कर सकते है। उसीमें अग्रवाल-समाज की भी सेवा आ जाती है। आप जमनालाल जी को छोड़ दें, किन्तु उनके लिए प्रेम क़ायम रक्खें और पचायत के जो लोग विरोधी है उनके प्रति भी क्रोध न

करे। हम क्रोध को अक्रोध से और अशान्ति को शान्ति से ही जीत सकते हैं। पचायत के लोग क्रोध के पात्र नही हैं, दया के पात्र हैं। वे तो अवश्य ही समझते हैं कि हम समाज का भला कर रहे हैं। उन्हे क्या पता कि वे धर्म के नाम पर जुल्म करना चाहते हैं। इसलिए आप तो उनसे भी प्रेम करो और जमनालालजी को आशीर्वाद दो कि वह धर्म की रक्षा और अन्याय का सामना करने में कृतकार्य हो।"

गाधीजी का वक्तव्य समाप्त होने पर सब लोग चुप हो गये। सन्नाटा-सा छा गया, किसीसे उत्तर देते नही बना। एक वृद्ध सज्जन ने चुपके से पगडी उतार कर गाधीजी के पैरो मे रख दी और कहने लगे—"महाराज, आपने जो कहा उसे सुन कर तो मै गद्गद् हो गया।" उस वृद्ध से अधिक कहते न बन पडा, किन्तु पचों के त्रास से वह भी भयभीत था।

हिन्दू समाज, भगवान तेरा भला करे!

× × ×

गाधीजी जब चर्खा चलाने बैठते है तो कातने की धुन में इतने मस्त रहते है, मानो त्रिलोक का राज्य मिल गया हो। और किसी भी गहन-से-गहन विषय पर उनसे बातें कीजिए, उनके कातने में कोई विघ्न नही पड़ता। असल

मे तो एक ओर सूत का अपने आप उनके हाथ की पूनी मे से निकलते जाना, दूसरी ओर उनकी अबाधित वचन-धारा का प्रवाह, और साथ में चर्खे का सगीत, यह हर भावुक के मन मोहने को पर्याप्त है। मे तो हर रोज उनके कातने के समय अपनी चक्की चलाने जा बैठता हूँ। एक दिन वही बछड़े की कथा छिड़ी। मैंने कहा—"महात्माजी, श्रीकृष्ण ने भी बछड़ा मारा था; किन्तु वह तो आलंकारिक जमाना था, इसलिए बछड़े का वत्सासुर होगया। किन्तु इस बीसवी शताब्दी मे तो लोग सीधी-सादी भाषा ही में बोलते है, इसलिए आपके इस काम ने खाली हलचल पैदा कर दी। आपने बहुत से साहस किये, किन्तु इसमें तो हद होगई। मुझे तो मालूम होता है, आपने इससे अधिक साहस का कोई और काम अपने जीवन में नही किया होगा।"

गांधीजी ने कहा—"ऐसी तो क्या बात है, मैंने तो सब कुछ सहज स्वभाव से ही किया है।"

"तो आपने ऐसा कौन-सा काम किया है जिसे साहस की दृष्टिसे आप अपने जीवन मे ऊँचे-से-ऊँचा स्थान दे सके ?" मैंनें पूछा।

"इस दृष्टि से तो मैंने कभी नही विचारा।" गांधीजी ने कहा, "किन्तु, मै समझता हूँ, बारडोली-सत्याग्रह स्थगित

करके मैंने बहुत बड़े साहस का परिचय दिया। २४ घंटे पहले सरकार को चुनौती देकर ललकारना और फिर अचानक सत्याग्रह को स्थगित करना, यह अपने आपको बेहद हास्यास्पद बनाना था; किन्तु मै तनिक भी न झिझका। जो सत्य था वही मेरा राजमार्ग था और इसलिए मेरी अपनी हँसी होगी, इस विचार ने मुझे कभी भयभीत नही किया। मेरे जीवन के बड़े साहसिक कामो मे का यह एक था, ऐसा मैं मान सकता हूँ।"

"सविनय आज्ञा-भग अचानक बन्द करना पडा, इससे आपको क्लेश नही हुआ ?"

"किंचित् भी नही।" गाधीजी ने दृढता से कहा।

जिस सीता के लिए लाखो बन्दर और राक्षसों के प्राण गये, उसे छोड़ देने मे राम को कुछ हिचकिचाहट न हुई। और जिस सविनय आज्ञा-भंग के लिए हजारो लोगो को जेल-यातनाये मिली उसे ढाह देने मे गाधीजी को कोई सकोच नही हुआ। त्रेता में लोगो ने राम को भला-बुरा कहा होगा। कलि मे गांधीजी को लोगो ने खरी-खोटी सुनाई। किन्तु कौन कह सकता है कि गाधीजी ने जो किया वही ठीक न था ? असल में तो बड़े लोगो को समझने के लिए कुछ प्रयास की जरूरत पड़ती है। गाधीजी लँगोटी मार कर रहते हैं, सस्ते-से-सस्ता खाना खाकर निर्वाह करते

है, तो भी उस सबके नीचे छिपी हुई चमक कभी-कभी लाखों में चकाचौंध मचा ही देती है। गांधीजी लँगोटी मार कर गरीबों की तरह रहते हैं, इससे उनकी बुद्धि ग़रीब नही हो गई है। वस्तुस्थिति तो यह है कि बाज़-वाज़ मौक़ो पर गाधीजी के वचन और कर्म को ठीक-ठीक समझने के लिए मनुष्य को विशेष प्रयास की ज़रूरत पड़ती है। हम रोज़मर्रा यह देखते है कि अखबार वाले गांधीजी से वार्त्तालाप करके कुछ छाप देते हैं और पीछे गांधीजी को उसका खडन करना पड़ता है। कारण यह है कि गांधीजी को लोग ठीक-ठीक नही समझ सकते। गांधीजी अहिंसा-अहिंसा पुकारते न कभी थके, न थकते हैं। अहिंसा के तो मानों वह अवतार बन गये है। फिर भी बछड़े की प्रख्यात हिंसा करते न केवल उन्हे हिचकिचाहट नही हुई, उलटा उसे उन्होने धर्म माना। साधारण लोग तो सुनते ही हक्के-बक्के रह गये। किसी ने आँसू बहाये, किसी ने गालियाँ दी; किन्तु साबरमती के महात्मा पर उसका क्या असर हो सकता था? उन्हे तो लेना-देना है बस एक ही से। चर्खा चलाते है तो उसमे ईश्वरीय सगीत सुनते है। अलसी के तेल से मिली रोटी खाते है तो उसमें ईश्वरीय स्वाद का अनुभव करते है। दुःख में, सुख मे, हँसने में, रोने में, जागने में, सोने में, चलने में, फिरने में अविच्छिन्न रूप से

जो मनुष्य ईश्वरीय अनुभव करता है, उसे जगत् की क्या पर्वाह ?

"सन्तन सँग बैठ-बैठ लोक-लाज खोई,
अब तो बात फैल गई जाने सब कोई ।"

यह गांधीजी का हाल है । जगत् से न उनको शर्म है, न जगत् का भय है ।

मैंने एक रोज़ पूछा—"महात्माजी, उत्तरोत्तर आपकी आत्मोन्नति हो रही है, ऐसा कुछ आपको अनुभव होता है ।" शील-सकोच से गांधीजी ने कहा, "मेरा तो ऐसा ही खयाल है ।" मैंने कहा, "महात्माजी, आपके इर्द-गिर्द की मण्डली क्या समझती है, मैं नही जानता; किन्तु मुझे तो ऐसा जान पड़ता है, असहयोग-आन्दोलन के बाद आपकी आत्मा में बहुत चमक आगई है ।" महात्माजी मौन रहे । एक बार लार्ड रीडिंग से गांधीजी की चर्चा चली थी, उसका मुझे स्मरण हो आया । गांधीजी उन दिनो जेल में थे । देश के नेताओ का ज़िक्र छिड़ने पर मैंने कहा, "मेरी राय में गांधीजी संसार के सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति है ।" वाइसराय ने कहा—"हाँ, यह ठीक हो सकता था, यदि उनके संगी-साथी सब-के-सब ईमानदार होते ।" मैं वाइसराय का मतलब समझ गया । यह कोई नही कह सकता कि असहयोग के दिनो में गांधीजी की सारी-की-सारी मण्डली भली

थीं। किन्तु गांधीजी को इससे क्या। मैंने उन दिनों एक बार कहा था—"महात्माजी, आपके इर्द-गिर्द के लोगों में कितनेक बुरे आदमी भी आगये हैं।" गांधीजी ने कहा—"मुझे क्या डर है, मुझे कोई धोखा नही दे सकता। जो मुझे धोखा देने मे अपने को दक्ष समझते हैं, वे स्वय अपने आपको धोखा देते हैं। मैं तो शैतान के पास भी रहने को तैयार हूँ; किन्तु शैतान मेरे पास कैसे रहेगा? जो बुरे है, वे स्वयं मुझे त्याग देंगे।" हुआ भी ऐसा ही। आज महात्माजी की मण्डली मे इने-गिने लोग बचे है। शुरू से आज तक के इनके जीवन पर दृष्टिपात करें तो सारा चित्र आंखो के सामने नाचने लगता है। राजा ने छोड़ा रौलेट-ऐक्ट के जन्म के समय। प्रजा ने छोड़ा बारडोली के निश्चय के समय। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, जैन, आर्य-समाजी, सनातनी, जात-पांत, मित्र, स्नेही, सबने—किसी ने कब किसी ने कब—महात्माजी को समय पर छोड़ दिया। युधिष्ठिर स्वर्ग मे पहुँचे तो एक कुत्ता केवल साथ मे निभा। महात्माजी के स्वर्गारोहण तक कौन उनके साथ टिक सकेगा, यह भविष्य के गर्भ मे है। मैंने एक दिन कहा—"महात्माजी, आप इतनी तेजी से दौड़ लगा रहे है, मैं नही समझता, अन्त तक बहुत व्यक्ति आपके साथ रह सकते हैं।" गांधीजी ने कहा, "यह तो मैंने २० साल पहले ही

सोच लिया था, और मुझे तो इसी में सुख है।" मैंने कहा, "यदि प्राचीन समय होता और भारतवर्ष के बाहर आप पैदा हुए होते, तो इतनी तेजी की चाल लोग बर्दाश्त न करते। या तो ईसा की तरह आपको सूली पर चढ़ना पड़ता, अथवा सुकरात की तरह ज़हर का प्याला पिलाया जाता। किन्तु यह तो ऋषियो का देश है और बीसवी शताब्दी है, इसलिए लोगो ने आपके महात्मापन का टाइटल छीन कर ही सन्तोष कर लिया।"

गांधीजी ने हँस कर धीरे से कहा—"तो चढा दें लोग मुझे भी सूली पर, मैं भी तैयार हूँ और प्रसन्नता के साथ तैयार हूँ।" पास बैठे लोगो ने लम्बी सांस ली। मेरे तो मन में आया कि इस मिश्रित अधर्म से तो कही अन्धकार ही अच्छा, जो अवतार को निकट ला देता। आज न तो अधर्म का ह्रास ही होता है और न अवतार ही आता है। यह दशा तो असहनीय है—किन्तु कोई क्या करे ?

[२]

जीवन-निर्वाह की समस्या

गांधीजी के यहाँ त्याग का गुणगान रात-दिन रहता है। कम-से-कम कितने रुपयो में निर्वाह हो सकता है, इसीका प्रयोग होता रहता है। गांधीजी भी अलसी के तेल का प्रयोग इसलिए करते है, जिसमें जीवन-निर्वाह का

खर्च कम-से-कम हो। उनके इस आचरण के कारण वातावरण ही ऐसा बन गया है कि उनकी मण्डली में जीवन-निर्वाह की आवश्यक-से-आवश्यक सामग्रियो का उपभोग करना भी गुनाह-सा होगया है। सेठ जमनालालजी का चौका भी सेठाई से शून्य है। बे-मसाले की स्वाद-हीन एक तरकारी, मोटे टिक्कड़, दूध-दही तो औषधि के रूप में—यह रोजमर्रा की रसद हैं। किसी मोटे मरीज़ के लिए तो आश्रम का भोजन या जमनालालजी का चौका रामबाण औषध है। किन्तु हरिभाऊ उपाध्याय जैसे अधमरे ब्राह्मण के लिए भी वहाँ वज़न बढ़ाने की कोई गुंजाइश नही। किसी भी आश्रमवासी बालक या बालिका के चेहरे पर मैंने शारीरिक ओज के चिन्ह नही पाये, यद्यपि त्याग का तेज काफी तादाद में टपकता है। संन्यासाश्रम का आदर्श भी यही था कि कम-से-कम खाओ, अधिक-से-अधिक उपजाओ। अर्थात् अल्प मात्रा से जीवन-निर्वाह कर अधिक-से-अधिक ससार की सेवा करो। यह स्वेच्छा का त्याग था। आश्रमवासियो की भी यह स्वय-निर्मित क़ैद है। किन्तु भारत के जन-साधारण को आश्रमवासियो से अधिक कहाँ मिलता है? भारतवर्ष के प्रत्येक मनुष्य की आय का औसत गोखले ने २) माहवार निश्चित किया था। किसी-किसी ने इससे अधिक का अन्दाजा किया। किन्तु

भारतवर्ष को सब्ज बाग दिखलाने वाले अंग्रेज भी ४॥) माहवार से अधिक की आय नही साबित कर सके। भारतवासी की आय ४॥) और अंग्रेज की ५०) प्रतिमास !

आश्रमवासी बेचारे कम-से-कम खर्च करके भी १५) माहवार से कम मे गुजर नही कर सकते और भारत के दरिद्रनारायण ४॥) माहवार में किसी तरह कीड़े-मकोड़े का जीवन व्यतीत करते है। आश्रमवासियो ने तो अपने आप अपने ऊपर कैद लगाई है, सुख को तिलाजलि दी है, देश के लिए फकीरी ली है, इसलिए हरिभाऊजी के अधमुए शरीर को देख कर तरस खाना बेकार है। किन्तु देश के जन-समुदाय ने कब संन्यास-दीक्षा ली थी, जो उनकी गरीबी को हम सन्तोष समझ बैठे हैं ? उनका सन्तोष क्या है, बुढ़िया का ब्रह्मचर्य है। उन्हे सन्तोष सिखाना उनकी गरीबी की निर्दय हँसी उड़ाना है। मैंने गाधीजी से कहा—"महात्माजी, त्याग तो आपको और आपके चेले-चाँटियो को ही शोभा दे सकता है; किन्तु देश के असंख्य दरिद्रो को त्याग की कौन-सी गुंजाइश है ? वे तो पहले से ही आधा पेट भोजन करते है। और फिर यदि वे लोग समझ बैठें कि ४॥) माहवार या इससे भी कम में निर्वाह करना ही हमारा कर्त्तव्य है, तो फिर स्वराज्य की भावना को प्रोत्साहन देना फिजूल है। स्वराज्य की भावना दो ही

कारणो से देश में पैदा हो सकती है—या तो धार्मिक असतोष के कारण, या आर्थिक वेदना के कारण। यूरोपीय देशो मे पेट की चिंता ने स्वराज्य की भावना को जाग्रत रक्खा। यहाँ धार्मिक असन्तोष ने समय-समय पर सुधर्मियो के राज्य की भावना को प्रोत्साहन दिया। किन्तु अंग्रेजों ने न हमारे मन्दिर गिराये, न मुसलमानो की मस्जिदें तोड़ी। इसीलिए स्वराज्य की भावना तो तभी पैदा हो सकती है, जब हम यह महसूस करें कि हमारी आर्थिक हीनावस्था बिना स्वराज्य के नही सुधर सकती। किन्तु इस दारिद्रय को ही आदर्श माने तब तो फिर स्वराज्य के लिए कोई क्यो लड़ें? इसलिए मेरी बुद्धि में तो जहाँ यह अपने आप धारण की हुई गरीबी आश्रमवासियो एव अन्य कार्यकर्ताओं के लिए भूषण है, जनता की बेबस ग़रीबी गरीबों का और देश का दूषण है। उन्हे तो हम यह कहे कि तुम्हारे पास जीवन-निर्वाह की सामग्री स्वल्प है, उसको मर्यादा के भीतर बढाने का उद्योग करना तुम्हारा धर्म ह।" महात्मा जी ने कहा—"मै गरीबों को जीवन की आवश्यकीय सामग्री घटाने के लिए कहाँ कहता हूँ? आज गरीब जितने में निर्वाह करता है वह तो हमारे लिए शर्मानि की बात है। वर्तमान गरीबो का जीवन तो पशुओ का जीवन है। उनके सामने त्याग की बातें करना निर्दयता

है। जिनके पास काफी सामग्री है, या जो सेवा करना चाहते है, मै तो उन्हे ही गरीब बनने का उपदेश करता हूँ।" मैंने कहा, "आपके साहित्य के पढने से तो कुछ भ्रम पैदा हो सकता है। आप अलसी के तेल पर निर्वाह करे और आपकी मण्डली आपका अनुकरण करे, तो फिर लोग शायद यह भी समझ सकते है कि देश का हर मनुष्य कम-से-कम खाकर जीये।" गाधीजी ने कहा, "लेकिन मेरा साहित्य ग़रीबो के लिए थोडे ही है। जब गरीब लोग पढ़े-लिखे होने लगेंगे और मेरा साहित्य पढ़ने लगेंगे, तो शायद मुझे कुछ थोड़ा-सा फेरफार करना पड़े। किन्तु आज तो मै त्याग का गुणगान धनी या मध्यम वर्ग के लोगो के लिए ही करता हूँ। गरीबों को त्याग क्या सुझाऊँ, वे तो परवशात् त्यागी बन बैठे है। उन्हे तो इससे अधिक की आवश्यकता है।" मैंने पूछा, "आपकी राय में हर मनुष्य को खाने-पहनने और सुख से रहने के लिए कितने व्यय में निर्वाह करना चाहिए?" गाधीजी ने कहा, "जितने में सुखपूर्वक स्वस्थ रहते हुए निर्वाह कर सके।"

"यानी रोटी, दाल, भात, तरकारी, फल, घी, दूध, सूती-ऊनी कपडे, जूते?"

गाधीजी ने कहा—"जूते की आवश्यकता मै इस देश में नही समझता, शायद खड़ाऊँ की आवश्यकता हो; घी

तो ज्यादा नही चाहिए।"

मैंने पूछा—"दंत मजन, साबुन, ब्रुश इत्यादि।

गाधीजी ने कहा—"अरे, इसकी कही आवश्यकता हो सकती ह ?"

मैंने पूछा,—घोड़ा ?"

सब लोग हँसने लगे। मैंने पूछा, "खैर, आपकी राय मे ग़रीब आदमी का बजट कितने रुपये का होना चाहिए ?" १००) माहवार से कम में कैसे कोई सुखपूर्वक गुज़र करे, यह तो मेरे जैसे मनुष्य की बुद्धि के बाहर की बात थी। इसलिए मैंनें १००) का तखमीना रक्खा। हरिभाऊजी ने कहा—"मैंने साधारण आदमी का बजट गढ़ कर देखा था, ५०) प्रति मास काफ़ी है। "महात्मा जी को तो ५०) भी ज्यादा जँचे। "२५) माहवार तो काफी है।"—यह उन्होने अनुमान लगाया। मैंने कहा, "यह तो असम्भव है।" गांधीजी ने कहा, "अच्छा, जो स्वास्थ्य के लिए चाहिए उतनी सामग्री का तखमीना करलो। यदि २५) से ज्यादा आता है तो भी मुझे क्या उज्र है; किन्तु मै जानता हूँ कि २५) माहवार हर मनुष्य को खाने को मिले तो यहाँ राम-राज्य आ जाये।"

"और यदि किसी-किसी को ५०) से ज्यादा मिल जाये तो ?" मैंने पूछा।

"ज्यादा मिल जाये तो उसका उपभोग करे।" गांधीजी ने उत्तर दिया, "किन्तु वह तो फिजूलखर्ची है, ऐसे मनुष्य को तो मैं त्याग का ही उपदेश करूँगा।"

मैंने पूछा—"महात्माजी, यदि प्रत्येक मनुष्य की आय २००) औसत या इससे भी अधिक हो जाये, तो आपको क्या उज्र हो सकता है ?"

महात्माजी ने आवेश के साथ कहा—"उज्र नहीं हो सकता है ? उज्र तो हो ही सकता है। संसार में प्रकृति जितना पैदा करती है वह तो इतना ही है कि हर मनुष्य को आवश्यक वस्त्र और जीवन-निर्वाह की अन्य आवश्यक सामग्री सुखपूर्वक मिल जाये; किन्तु प्रकृति मनुष्य के अपव्यय के लिए हर्गिज पैदा नहीं करती। इसके मानी तो यह हैं कि यदि एक मनुष्य आवश्यकता से अधिक उपभोग कर लेता है तो दूसरे मनुष्य को भूखा रहना पड़ता है और इसीलिए जो अधिक उपभोग करता है उसे मैं लुटेरे की उपमा देता हूँ। इस हिसाब से ५०) से अधिक जो अपने लिये खर्चते हैं, वह लुटेरे हैं। इंग्लैण्ड एक छोटा-सा देश है, वहाँ के ३॥ करोड़ आदमियों के भोग-विलास के लिए आज सारा एशिया उजाड़ा जा रहा है। किन्तु भारत के ३२ करोड मनुष्य यदि २००) माहवार या अधिक खा जाने का प्रयत्न करें तो संसार तबाह हो जाये। भगवान् वह दिन न लावे

कि भारत के लोग अंग्रेजों की तरह उपभोग करना सीखें। किन्तु यदि ऐसा हुआ तो ईश्वर ही रक्षा करे। ३॥ करोड़ की भोग-पिपासा मिटाने में तो यह देश मरा जा रहा है, ३२ करोड़ आदमियों की भोग की भूख मिटाने के लिए तो संसार को मरना होगा।" मैंने कहा—"महात्माजी, यदि ५०) या १००) से अधिक खानेवालों को लुटेरे समझें तब तो मारवाड़ी, गुजराती, पारसी, चेट्टी इत्यादि सब लुटेरे हैं।"

महात्माजी ने गम्भीरता से कहा—"इसमें क्या शक है। वैश्यों के हित प्रायश्चित करने के लिए ही तो मैंने वैश्यपन छोड़ा है।"

मार्च, १९२९

: २ :

'प्रेमी की व्याकुलता'

"गांधीजी ८८ पौंड हो गये," यह पढकर मै सहम गया। क्या लिखूं! उन्हे कोई नही मना सकता। मैंने उन्हे लिखा था कि आपको faddist या 'चक्रम' कहना चाहिए। उन्होने कहा, 'चक्रम' के माने तो होते है 'पागल'। किन्तु वह हैं और क्या? मुझे तो चिन्ता होती है कि कोई नुक़सान न हो जावे। फिर भी अक्ल के पूरे लोग है जो उन्हे कहते हैं, शहद क्यो खाते हो? हम तो सब कुछ करें मगर दुनिया सब भोग हमारे लिए छोड दे, यह जाने-अनजाने हमारी सबकी प्रवृत्ति हो रही है। गांधीजी ने क्या रखा है? सब तो छोड़ दिया, फिर भी हमे उनका शहद खाना भी बरदाश्त नही। ऐसे लोगों की अक्ल पर पत्थर। एक मित्र से मैंने एक कहानी कही—

"एक बुड्ढा पागल था। रोज लोगो की सेवा करता था, लोगो का मैल धोता था, उन्हे रोटी देता था, उन्हे ज्ञान देता था। किन्तु स्वय थोडे-से अन्न-वस्त्र पर निर्वाह करता था। लोगो ने उसकी तारीफ की।

एक मूर्ख ने कहा—"इसमे तारीफ की कौन-सी बात है ? बुड्ढा पूरे कपड़े पहनता है।"

बुड्ढे ने सुन लिया और कपड़े फेंक दिये।

दूसरे मूर्ख ने कहा—"ओ हो, इसमे क्या है ? बुड्ढा दूध, फल काफी खा जाता है।"

बुड्ढे ने दूध भी छोड़ दिया, फल भी छोड़ दिये।

फिर एक मूर्ख ने कहा "और यह तो रोटी खाता है।"

बुड्ढे ने कच्चा चना चबाना शुरू कर दिया।

चौथे ने कहा—"देखो, स्वाद नही मरा, शहद खा जाता है।" बुड्ढे ने शहद भी छोड़ दिया।

पाँचवें ने कहा—"आखिर खाता तो है।" बुड्ढे ने खाना भी छोड़ दिया।

छठे ने कहा—"पानी तो पीता है।" तब पानी को अन्तिम नमस्कार कर बुड्ढा एक रात को राम-राम करते-करते मर गया।

सुबह हुई तो न कोई सेवा करनेवाला, न रोटी देनेवाला। लोग खूब रोये। बुड्ढे की तारीफ भी काफ़ी

की। किन्तु किसीनें यह नही कहा कि हमी ने वुड्ढे को मार दिया।

"हरिभाऊजी, शहद पर यह नुक्ताचीनी करनेवालो से आप 'त्यागभूमि' द्वारा पूछिए कि वे इस वुढ़ऊ को जीने देगे कि नही ? जव मर जाते है तव मरनेवालो को रोते है। मरने के वाद वाप का श्राद्ध करते है। पर जीते जी उन्हे शहद भी नही खाने देते। मेरी चले तो मैं नही जानता क्या करूँ ?"

अगस्त, १९३०.

: ३ :

मन्दिर-प्रवेश बिल

गांधीजी है तो वन्दी; किन्तु है अद्‌भुत वन्दी। जेल की चार-दीवारी के भीतर है; किन्तु ऐसा मालूम होता है मानों सबके बीच में है। जो लोग उनसे मिलने जाते हैं, वे तो इस बात को महसूस ही नहीं करते कि गांधीजी क़ैद में हैं। किन्तु जो लोग उनसे नही मिलते हैं, वे भी भूल-से गये हैं कि गांधीजी जेल में हैं। कभी-कभी तो ऐसा मालूम होता है, मानों आश्रम में बैठे गांधीजी "हरिजन" का सम्पादन कर रहे है। शायद दुनिया के इतिहास में यह एक ही घटना है कि एक महापुरुष वन्दी भी हो और स्वतन्त्र भी। गांधीजी को अछूतों के सम्बन्ध मे सब तरह का प्रचारकार्य करने की इजाज़त है; किन्तु

अन्य बातों के लिए कोई इजाजत नही । तो भी वह क्या कहते है और क्या सुनते हैं, इसके प्रबंध के लिए कोई पहरा भी नही है । कैदी भी है स्वयं गांधीजी और प्रहरी भी हैं स्वयं वही । पक्षी और प्रतिपक्षी दोनों का विश्वास कैसे संपादन किया जा सकता है, उसकी गांधीजी एक बेनज़ीर मिसाल हैं ।

"अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः"

इस सूत्र को यदि किसीको चरितार्थ देखना हो तो वह गांधीजी को खुर्दबीन से देखे ।

हरिजनो के हितार्थ महात्माजी ने २० सितम्बर को उपवास प्रारम्भ किया, २४ सितम्बर को हरिजनो और उच्चवर्ण के हिन्दुओ के बीच करारनामा बना और २६ सितम्बर को इस करारनामे की घोषणा सरकार की ओर से की गई । महात्माजी जब उपवास-शय्या पर लेटे हुए थे, तब पास में जानेवालो की तो बात ही क्या, दूरवालो के भी चेहरे उतरे हुए थे । ऐसी हालत में यह छः दिन क्या निकले, मानों छः साल निकले । यह स्वाभाविक है कि दुख का एक पल भी कल्प-जैसा बीतता है । किन्तु चिताग्रसित लोगो को ये छ· दिन छः साल-जैसे लगे, वैसे ही इन छ· दिनो ने काम भी छः साल का ही किया ।

जिस दिन से उपवास की घोषणा हुई, उसी दिन से

हरिजनों के उत्थान की गाड़ी तेजी से दौड़ने लगी। जगह-जगह मंदिर खुलने लगे। कुएँ खुले। गुरुवायु के सनातनियों ने तो कमाल कर दिखाया। बहुमत ने हरिजनो को मंदिर-प्रवेश की इजाज़त देदी। गायकवाड़ और काश्मीर-नरेशों ने अपने यहाँ मन्दिर खोलने की आज्ञा दे डाली। प्रयाग में सनातनधर्म-सभा ने भी इसी प्रकार के प्रस्ताव पास किये। इन पाँच महीनों में आश्चर्यजनक उन्नति हुई है, तथापि यह सही है, कि अभी काफ़ी मंज़िल पड़ी है। पर जो कुछ हुआ है, वह भी एक चमत्कार ही समझना चाहिए।

सनातनी भाइयो का विरोध बढ़ रहा है। किन्तु वह एक प्रकार से अच्छा है। जो सुधार विना विरोध के होते है, उनकी बुनियाद पक्की नही हो सकती। बीज का अंकुरित होने से पहले फटना आवश्यक है। तभी तो एक बीज के सहस्त्रों बीज बन जाते है। आज जो हिन्दू जाति की दशा है, उसकी अंकुरित होनेवाले बीज से तुलना की जा सकती है। हिन्दू-जाति के हृदय का इस समय मन्थन हो रहा है। इसका परिणाम तो शुभ ही होगा।

मन्दिर-प्रवेश बिल के सम्बन्ध में गहरी ना-समझी छाई है। इसके कारण कुछ लोगो में सच्ची व्याकुलता है। "धर्म के मामले में सरकार का कोई हस्तक्षेप नही होना चाहिए" यह चिल्लाहट जोरों से हो रही है। मैं तो

इस बात को नही मानता कि धर्म के मामले मे सरकार का हस्तक्षेप हो ही नही। हिन्दू-लॉ क्या है और किसके सहारे टिकता है? यदि सरकार का दखल न हो तो हिन्दू-लॉ का शासन कैसे सम्भव है? राजा धर्म का रक्षक है, यह तो हिन्दुओ का प्राचीन सूत्र है। यदि हमारी निज की सरकार हो तो यह सूत्र सर्वमान्य होगा। परन्तु विदेशी सरकार का दखल भी अनिवार्य तो है ही। सती-निषेध क़ानून, विधवा-विवाह कानून और बालविवाह-निषेध क़ानून, ये चाहे अच्छे हो या बुरे, इनमे सरकार का सहयोग तो था ही, और होना भी चाहिए। किन्तु जो सनातनी इन कानूनो को बुरा बतलाते है, वे भी जानते है कि यदि सरकार का धार्मिक मामलो मे दखल न होता तो हरिजनो का मन्दिर-प्रवेश आज अत्यन्त सुलभ हो जाता।

आखिर हरिजनो के मंदिर-प्रवेश को रोकता कौन है? हिन्दू-जाति का बहुमत तो कदापि नही रोकता। रोकता है प्रचलित कानून। कानून का हुक्म यह है, कि अछूत मंदिरो में न जा सके। अगर वह जाता है तो क़ानून की हुक्म-उदूली करता है और सज़ा का भागी होता है। ऐसे बेहूदे कानून को मिटाने के लिए यदि कोई नया कानून बने तो उन लोगो को तो विरोध करने का कोई अधिकार ही नही है, जो धार्मिक मामलो में सरकार की

दस्तन्दाजी नहीं चाहते। बात तो यह है कि यह क़ानून, कम-से-कम, हरिजनों के मामले में सरकार की दस्तन्दाजी रोकने के लिए ही बनाया जारहा है और इसीलिए सबके समर्थन करने योग्य है।

२३ फरवरी १९३३

: ४ :

गांधीजी और अभिमान

हरिजन-मन्दिर-प्रवेश बिल का विरोध करते हुए महामना पूज्य मालवीयजी ने गाधीजी को लिखा है कि "आप उतावले न हो, धीरे-धीरे चले। अभिमान से तपश्चर्या कलुषित होजाती है।"

पडितजी का यह लिखना, पडितजी के कितने ही मित्रों को कुछ अखरा जरूर, क्योकि पडितजी से बढकर बोलने या लिखने में विवेक करनेवाले थोड़े ही लोग होगे। संभव यही जान पड़ता है कि पडितजी के लिखने का भाव ही कुछ और ही था। तो भी गाधीजी की मनोवृत्ति के सम्बन्ध में यहाँ कुछ चर्चा करना अप्रासगिक न होगा।

साधारणतया तो यही समझ में आता है कि जहाँ

अभिमान हो वहाँ तप समवित नही। "तपस्वी को अभिमान हो" यह परस्पर विरोधी-जैसे वाक्य जान पडते है। हाँ, नीचे की तरफ सिर करके अग्नि के ऊपर उलटा झूला खानेवाले खाकी बाबा को तो अभिमान की कमी नही होती, किन्तु इन उलटा झूला खानेवालो को तो शायद ही तपस्वी कहना चाहिए। हाँ, गीता में ऐसे राजसी और तामसी तपो का वर्णन है सही; जो या तो सत्कार, मान और पूजा के लिए दभपूर्वक अथवा दुराग्रह से किसीके नाश के लिए किये जाते है। परन्तु गांधीजी के दुश्मन भी यह नही कह सकते कि गाधीजी उपर्युक्त प्रकार के निकृष्ट श्रेणी के तप करनेवालो मे से है, इसलिए यदि गीता के अनुसार,

(देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ।
मन प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥
श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविध नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्विकं परिचक्षते ॥)

गाधीजी सात्विक तपस्वियों मे से हों, तो फिर उनपर अभिमान का आरोपण करना तप की महिमा को घटाना होगा।

पिछले दिनो, जब मैं पूना गया, उस समय गांधीजी से मैंने उनकी उपवास-नीति की चर्चा छेड़ी। मैंने गाधीजी से कहा कि "मुझे तो मालूम होता है कि आपने उपवास द्वारा प्राण छोडने का सकल्प कर लिया है। शायद आप यह सोचते होगे कि अब बहुत दिन तो जीना है नही; इस-लिए मरना ही है तो फिर मृत्यु से भी कीमत क्यों न अदा की जाय। आप सेवा के लिए ही जिन्दा रहे और शायद सेवा के लिए ही आप प्राण छोड़ने का भी संकल्प करते हो। यदि यही सकल्प हो तो फिर जहाँ एक प्रश्न आपके इच्छानुसार हल हुआ कि आप और एक दूसरा प्रश्न कही और अधिक महत्व का पकड़ बैठेंगे और इस तरह आगे बढते-बढते, शायद एक ऐसे प्रश्न को आप पकड बैठें, जिसका हल होना लोगों की शक्ति से बाहर हो और उसी प्रश्न पर आप प्राण छोड़ दें। जीवन से जैसे आपने लोगों को शिक्षा दी, वैसे ही मृत्यु से भी शिक्षा देना चाहते हैं।"

हिन्दू-जाति के इतिहास में भावुक लोगो के अनशन-व्रत धारण करके, या तो काशी-करवत लेकर या गंगा-प्रवाह लेकर प्राण त्याग देने के, कई उदाहरण मिलते हैं।

"सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन को लैहों करवत काशी।"

यह सूरदासजी की प्रिय अभिलाषा थी। पाडवो ने भी जान-बूझकर प्राण छोड़े थे। यद्यपि गांधीजी के उपवास

से इन दृष्टान्तों का कोई मिलान नही खाता, तो भी मुझे यह खयाल आया कि मृत्युद्वारा भी गांधीजी लोगो के लिए एक और उदाहरण छोड़ जाना चाहते हैं। इसलिए मैंने गांधीजी से उपर्युक्त बाते कही।

गांधीजी के उत्तर ने मेरी इन शकाओं को बिलकुल रफ़ा कर दिया। गाधीजी ने कहा "इस बहम को तुम अपने दिमाग से ही निकाल डालो। जो मनुष्य मरने की तैयारी करता है, वह न तो नई-नई भाषायें सीखने का प्रयत्न करता है और न तुम्हारे पास से एक्सचेंज और करेंसी का साहित्य मँगाकर अर्थशास्त्र का पडित ही बननें की कोशिश करता है। मै तो बगला सीख रहा हूँ तथा एक-आधी और भी भाषा सीख रहा हूँ। मै न तो अपने आपको बूढा मानता हूँ, न इस बात का विचार ही करता हूँ कि कब मरना है और कबतक जीना है। जो वस्तु मेरे अधिकार के बाहर की है उसपर विचार करना, यह मेरा काम ही नही है। इसलिए मैंने, जैसा तुम बताते हो, वैसा कोई निर्णय किया है इस कल्पना को ही दिमाग से निकाल दो।"

किन्तु उन्होने एक बात और कही, जो उपर्युक्त शब्दो से कही अधिक महत्व की थी। उन्होने कहा, "मेरी मृत्यु किसी निमित्त को लेकर हो, इस कल्पनामात्र में भी मैं अभिमान देखता हूँ। यदि मुझसे पूछा जाय कि सेवा करते-

करते मरना पसन्द करोगे, या खटिया पर रोगी होकर पड़े-पड़े, तो मैं यही कहूँगा कि जैसी प्रभु की इच्छा हो, उसी तरह से। मैं कैसे मरूँ इसका विचार करना, यह मेरा नहीं, मेरे करतार का काम है। और मेरे लिए इस सम्बन्ध में कुछ भी कामना करना, यह अभिमान है।"

यह बात मुझे कुछ अद्भुत जान पड़ी। श्रद्धालु लोगों को भक्ति-भाव से गाते सुना है—

"इतना तो करना भगवन् जब प्राण तन से निकलें;
श्रीराम-नाम कहते यह प्राण तन से निकलें।
श्रीगंगाजी का तट हो, यमुना का वंशी-वट हो;
मेरा साँवला निकट हो, तब प्राण तन से निकलें।"

गांधीजी का ऊपर का कथन सुनने के बाद तो मालूम होता है कि यह पद्य भी अभिमान से शून्य नहीं है।

प्रस्तुत विषय इतना ही है कि गांधीजी ने कैसे अपनी हृदय-कन्दरा के कोनों को ढूँढ़-ढूँढ़कर अभिमान-शून्य बना रखा है, इसका साक्षी उनके ऊपर के वचन हैं।

२ मार्च १९३३

: ५ :

शास्त्र भी और अक्ल भी

हिन्दू समाज में कोई सुधार की बात चली कि शास्त्र मोर्चे पर आ डटे। यही दशा अस्पृश्यता-निवारण आंदोलन में भी हुई है। शास्त्रो के पन्नों की इस समय काफी उलट-पुलट है। यहां तक कि दोनों पक्षवाले शास्त्रो के अवतरण दे रहे हैं। गांधीजी ने भी पण्डितो का आह्वान किया और उनसे शास्त्रों की व्यवस्था पूछी। पण्डितो ने भी व्यवस्था सुनाई और श्री भगवान्‌दासजी, जो शास्त्रो के धुरन्धर विद्वान हैं, इन व्यवस्थाओं को काशी के "आज" पत्र के साथ 'क्रोड़-पत्र' के रूप मे प्रकाशित कर रहे है, जो सचमुच पढ़ने और मनन करनेयोग्य है।

शास्त्रो की इस छान-बीन का यह प्रयत्न इस तरह से

मुबारक है, क्योंकि कम-से-कम इससे पुराने आर्य-इतिहास का कुछ पता तो चल ही जाता है। किन्तु जो बाते सीधी-सादी बुद्धि द्वारा समझ मे आ सकती हो, उसमें ख्वाहमख्वाह शास्त्र को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देना खतरनाक भी है।

हमने कब शास्त्रो से परामर्श किया था कि रेल, मोटर, हवाई जहाज, तार और बेतार का उपयोग करे या नही ? किसी जमाने में मारवाड़ी भाई, धार्मिक बाधा के नाम पर, विदेशी चीनी के कट्टर विरोधी थे। अब इन्ही मारवाड़ी भाइयों ने, जैसे जावा और मोरिशस में चीनी बनाई जाती है, उन्ही तरीको से चीनी बनाने के अनेको कारखाने खोले है किन्तु कारखानों के बनाने के पहले कभी उन्होने शास्त्रो की व्यवस्था नही पूछी और पूछने की भी क्या जरूरत थी। आखिर जो चीज हमे अपनी आँखो से साफ दिखाई देती हो, उसके लिए चश्मा चढाना बेकार ही तो होगा।

एक प्रकाड शास्त्रज्ञ से गांधीजी ने अस्पृश्यता के सम्बन्ध मे शास्त्र का मत पूछा, तो पण्डितजी ने यह कहा था कि हिन्दू शास्त्र ऐसी वस्तु है कि जिस चीज की चाह हो उसकी पुष्टि मे और साथ ही उसके खंडन में भी प्रमाण मिल सकते हैं। यह बात उन पण्डितजी ने शास्त्रो की मर्यादा घटाने को नही कही थी। कही थी केवल वस्तुस्थिति का

दिग्दर्शन कराने के लिए। और उनकी यह शक्ति हमारे लिये चौंक उठने का भी कोई कारण नहीं है। हिन्दू धर्म में, जैसा कि ईसाई मजहब मे एक ही धार्मिक ग्रन्थ "बाइबल" है और मुसलमानो के यहाँ एक ही ग्रन्थ "कुरान" है कोई एक चक्रवर्ती ग्रन्थ नही है। यहाँ तो सदा से विचार-स्वातन्त्र्य रहा है। फलस्वरूप एक ही नही चार वेद बने, एक नही छः दर्शन बने, अनेक पुराण बने, अनेक उपनिषद् बने, यहाँ तक कि अल्लोपनिषद् भी बन गया। ज्यों-ज्यों बुद्धि का विकास बढा शास्त्र, साहित्य भी बढ़ता गया। शास्त्र के लिखनेवालो ने देश, काल को सामने रखकर कुछ अच्छी-अच्छी बाते लिखी, उन्ही शास्त्रो में पीछे से ऋषियो ने देश, काल का परिवर्तन देखकर फिर कुछ और जोड़ दिया। जैसी जिस समय आवश्यकता हुई उसी तरह से यह जोड़-तोड़ भी बढता गया। आर्य लोगो के रहन-सहन, आचार-विचार और शास्त्रों का यही इतिहास है। इसलिए परस्पर विरोधी बातो का भी शास्त्रों में होना स्वाभाविक है। हिन्दू शास्त्रो की महत्ता ही यह है कि विचार-स्वातन्त्र्य को कभी आसनाच्युत नही होने दिया। यही हमारी खूबी और ताकत रही है। इसीके बल पर हम आजतक जिन्दा है। हम निभा ले जायें तो हमारी यह खूबी ही हमारी जिन्दगी का बीमा होगी।

आर्य शास्त्रो मे काफी कुदन है। इतना है कि अन्य किसी मजहबी ग्रंथ में नही; किन्तु आम के साथ गुठली भी है, रेशे भी है, इसलिए विवेक की आवश्यकता तो है ही। जो सर्व-मान्य शास्त्र माने जाते है उनमे भी ऐसी बातो की कमी नही है, जो बुद्धि के प्रतिकूल और अप्रामाणिक है; और इसलिए अमान्य है। भागवत में लिखे गये भूगोल को क्या हम मानेगे? पारद और गन्धक की उत्पत्ति की शिक्षा आचार्य राय से लेना अधिक प्रामाणिक होगा अथवा रस-ग्रथो के वर्णन से? सुश्रुत मे लिखे गये भल्लातक के प्रयोग द्वारा एक सहस्र वर्ष की आयु प्राप्त करने की बात पर विश्वास करके क्या किसी को सफलता मिल सकती है? बात यह है कि जिस प्रकार हम नित्य समाचारपत्र पढ़ते समय रूटर की खबरो और विज्ञापनो के बीच अपनी अक्ल से विवेक कर लेते है और विज्ञापनो के वाक्यो पर, चाहे वे कितनी ही चित्ताकर्षक बातो से क्यो न भरे हो, जैसे हम ज्यो-का-त्यो विश्वास नही करते, उसी प्रकार हमें शास्त्रो के सम्बन्ध मे भी करना चाहिए। जो लोग हमें यह सिखाते हो कि हम बुद्धि को पृष्ठक्षेत्र में रखकर संस्कृत के ग्रंथ की हर बात को वेदवाक्य माने, वे एक प्रकार से शास्त्रो के बड़प्पन को घटाने की शिक्षा देते है।

वेद को हम ईश्वरीय ज्ञान मानते है, किन्तु जिस चीज

को ईश्वरीय ज्ञान मानते है उसकी सीमा भी अनन्त होनी चाहिए, क्योंकि ईश्वरीय ज्ञान सीमाबद्ध हो ही नही सकता। ईश्वरीय ज्ञान तो सम्पूर्ण, सर्वोत्कृष्ट, प्राचीनतम और नतनातिनूतन ही हो सकता है। किसी भी प्रकार का ज्ञान उसके बाहर नही छूट सकता। ऐसी हालत में यह भी मानना होगा, कि वेद केवल चार संहिताओं तक ही परिमित नही हो सकते। बेतार के तार का साहित्य चाहे चार संहिता-रूपी वेदों में न पाया जाय; किन्तु वह ईश्वरीय ज्ञान का अंश अवश्य है। इसलिए वेदों का वह भी एक भाग है। इस तरह हमें अपनी शास्त्र की कल्पना को भी विस्तृत बनाना होगा और अन्त में इस नतीज पर पहुँचना होगा कि जितना भी ज्ञान-समूह है वह सभी शास्त्र है, और जो सच्चे ज्ञान से भिन्न है, वह चाहे संस्कृत भाषा में हो चाहे अरबी या अंग्रेजी में, सारा अशास्त्र है।

हिन्दू समाज में वर्षों से अनेक विभाग बन गये है। अदृश्यता है, अस्पृश्यता है, अग्राह्यजलता है, असहभोजिता है और अवबाहिकता है। इनमें अन्तिम दो विभागों से हम किसीको चोट नहीं पहुँचाते। हम किसीके यहाँ खाने को नही जाते, इसमें हम किसीका अपमान नही करते। न विवाह-शादी ही ऐसी चीज है कि किसीसे सम्बन्ध करने से इन्कार करने में हम किसीके साथ अन्याय करते हो।

इसलिए असहभोजिता और अवैवाहिकता कोई पाप नही; किन्तु किसी मनुष्य के दर्शन-मात्र को पापमय मानना (अदृश्यता) जैसे कि मद्रास प्रान्त में एकाध जगह प्रचलित है, या किसीके स्पर्श-मात्र को पातक समझना (अस्पृश्यता) यह दोनो ही अभिमानमूलक, पापमय वृत्तियाँ है, जो हिन्दू धर्म की नाशक है ।

शास्त्र कैसे कह सकता है कि हमारा यह अन्याय धर्म हो सकता है ? इस सम्बन्ध मे हमारी अक्ल की गवाही क्या काफी नही है ? जो काम समाज की भलाई का हो, सदय हो, बुद्धि जिसका पोषण करती हो, गांधीजी जैसे आप्त पुरुष जिसका समर्थन करते हो, वह निश्चय ही धर्म है ।

ऐसे धर्म के खिलाफ जो सच्छास्त्र, सद्बुद्धि और सत्-पुरुषों द्वारा पोषित हो, यदि संस्कृत भाषा की कोई पोथी दूसरी बात कहे, तो ऐसी पोथी को शास्त्र कहना ऋषियो की महिमा को घटाना है । जिन ऋषियो ने शंख को, मृग-चर्म और बाघाम्बर को, एवं कस्तूरी और चामर को ठाकुर जी के पास पहुँचाने में हिचकिचाहट नही की, वे ऋषि चार करोड़ जीवित मनुष्यो को देवदर्शन से वंचित रखने की व्यवस्था लिख जायँ, यह कदापि सम्भव नहीं । वे इस समय यदि जिन्दा होते तो वे भी वही बात कहते जो आज

गांधीजी कह रहे हैं। प्रस्तुत कथन केवल इतना ही है कि हम शास्त्र भी पढ़ें और साथ ही कुछ अपनी अक्ल से भी काम लें। भगवान् कृष्ण के इस वचन की भी कुछ इज्जत करें—

"बुद्धौ शरणमन्विच्छ"

मार्च, १९३३.

: ६ :

दरिद्रनारायण के मन्दिर में

[१]

आठ मई को आँखें खुली तो गाधीजी के उपवास के स्मरण के साथ उठकर भगवान् से प्रार्थना की और गाँधीजी की जय मनाई। गाधीजी की तो सदा जय ही है। जिनका श्वास-प्रश्वास ही ईश्वर की सेवा में बीतता हो, उनकी पराजय कैसी ? किन्तु हम संसारी लोगो के तो जय और पराजय के माप-दण्ड भी निराले हैं।

न मालूम, उस दिन कितने आदमियो ने ईश्वर-आराधना की होगी और गाधीजी की जय-कामना की होगी। कोई जमुना-तट पर पहुँचे तो कोई मन्दिर मे। मैंने सोचा, कहाँ जाऊँ ? भगवान् जमना-तट पर मिलेंगे या मन्दिर

मे ? आखिर दोनो ही जगह पसन्द न आईं। "काहेरे बन खोजन जाई?" सोचा, भगवान् तो अपने जनों के बीच में ही मिल सकते हैं। "राम ते अधिक राम कर दासा।" आज हरिजनों को छोड़कर हरि और कहाँ मिल सकते हैं? सोचा, हरि को हरिजनों के ही बीच मे ढूँढूँ और प्रार्थना करूँ कि 'हे हरि, गाधी बापू जिन्दा रहे और मेरा कल्याण हो!' इस विचार से दरिद्रनारायण की खोज में हरिजनों की बस्तियों मे चक्कर लगाना शुरू किया। हरिजनों के पक्के सेवक या यों कहना चाहिए कि हरि के सेवक ठक्कर बापा पथ-प्रदर्शक बने।

सब से पहली हरिजन-बस्ती जो हमने देखी वह जयपुर प्रान्त के भगियों की थी। ये लोग यहाँ की म्युनिसिपैलिटी में नौकर हैं। बस्ती क्या थी, दोज़ख की जिन्दा तसवीर थी। जिस अहाते में ये लोग रहते हैं, उसके बीच मे क़रीब बीस सार्वजनिक पायखाने बने हुए हैं। इन लोगो के रहने की कोठरियाँ इन पायखानो से १० फीट हट कर परिक्रमा देती हुई बनी हुई हैं, जिनमें ये सकुटुम्ब रहते हैं। इस अहाते में प्रवेश करते ही, बाईं तरफ कुछ गाड़ियाँ खड़ी दिखाई देती हैं और इनके पास ही चिमनीवाली दो बड़ी भट्टियाँ भी हैं। गाड़ियो में पब्लिक का कूड़ा-कर्कट और मैला लाकर डाला जाता है, और जब वे भर जाती हैं तो

बैल जोत कर उन्हे शहर के बाहर ले जाते है और खाली करके वापस वही ला खडी करते है, जो चौबीस घटे गन्दगी फैलाती रहती है। भट्टियो मे जलाने लायक कूडा-कर्कट वही जला दिया जाता है। मानो सार्वजनिक पायखाने और कूडा-कर्कट की गाड़ियाँ इनका स्वास्थ्य बिगाडने को काफी न थी, इसलिए कूड़ा जलाकर गदगी की पूर्णाहुति करना आवश्यक समझा गया।

इस सारी व्यवस्था का फल यह हुआ है कि मेहतरो की यह छोटी-सी बस्ती मल-मूत्र और कूडे-कर्कट का एक स्थायी गोदाम बन गई है। कोठरियो के बीचो-बीच जो सार्वजनिक पायखाने है, उनमें रात-दिन बदबू आती रहती है और मक्खियाँ निकल-निकलकर भिनभिनाती है। जिन लोगो के बलपर सारा शहर स्वच्छ रहता हो, उन्हे इस तरह मल-मूत्र के कीटाणु बना देने से बढ़कर नृशसता और क्या होगी ? म्यूनिसिपैलिटी के सदस्यो (City-fathers) को शरमाने के लिए यह एक छोटी-सी बस्ती काफी है, हालाकि दिल्ली में ऐसी अनेक बस्तियाँ होगी। मुझे तो इनकी नारकीय स्थिति देखकर उनसे कुछ कहने की हिम्मत न पड़ी। उनसे क्या कहे ? कहना तो उनसे हो सकता है, जिनके कारण उनकी यह हालत हुई है।

ये लोग दारू और गाँजा पीते है। प्राय. सभी ने

स्वीकार किया कि शराब और गांजे पर काफ़ी रुपये का अपव्यय होता है। किन्तु जब तक उनके लिए साफ हवा का प्रबन्ध न हो, उनके साथ मनुष्योचित व्यवहार न हो तब तक उनसे किस मुंह से कहा जाय कि तुम शराब छोड़ो, गाजा त्यागो। मेरा तो खयाल है कि अपने शारीरिक दुःखों को भुलाने के लिए ही उन्हे मादक द्रव्यो की शरण लेनी पडी है। हमारी राक्षसी अवहेलना के कारण उनको उठाने के लिए वर्षों लगेगे और इसके लिए सर्वप्रथम हमें रोजमर्रा के अपने अत्याचार को बन्द करना होगा।

पूछने पर यह भी पता लगा कि म्युनिसिपैलिटी मे नौकरी हासिल करने के लिए इन्हे प्रत्येक मनुष्य पीछे चालीस-पचास रुपये पहले रिश्वत में और बाद को बराबर १) माहवार देना पड़ता है। इनपर कर्जा भी काफी है। फ़ी रुपया दो आना ब्याज देना पड़ता है। मुझे आश्चर्य लगा, कि ये लोग इतनी गन्दगी में ज़िन्दा कैसे रह सकते है! एक से मैंने पूछा, "भाई, तुम बीमार पडते हो तब दवादारू का क्या प्रबन्ध करते हो?" उसने कहा, "बिना दाम दवा कहाँ और हमारे पास दाम कहाँ?" एक आदमी की पीठ में दर्द था। उसने बताया कि उसने दर्द की जगह पर काली मिर्च और जौ का लेप कर रक्खा है। मैंने पूछा, "बीमारी में बिना डाक्टर के काम कैसे चलता है?" उसने

हँस कर कहा, "माई बाप, भगी को सत की बूटी मिली है, इसलिए हम कभी बीमार नही होते।"

मैंने अपने मन में कहा कि क्या हम लोग 'माई-बाप' कहलाने योग्य है ? मैंने पूछा, "बच्चो को पढाते क्यो नही ? स्कूल तो खुला है।" उनमें से दो-एक, जो नई रोशनीवाले मालूम होते थे, कहने लगे कि बच्चो को भेजेंगे। उन्हे अभी आदत नही है। किन्तु जो एक बूढा था, उसने कुछ आवेश के साथ कहा—"क्यो साहब, वे पढकर क्या कुछ ज्यादा कमा लेगे ? अभी कुछ लड़के जो पढे-लिखे है, उन्हे अव्वल तो नौकरी नही मिलती, और मिलती भी है तो कुछ अधिक वेतन नही मिलता। इसलिए शिक्षा का आखिर लाभ क्या ?" बूढे की दलील में कुछ वजूद तो था ही, किन्तु आखिर समझाने पर उसने बच्चो को नियमित रूप से स्कूल में भेजने का वादा किया।

इनसे विदा लेकर हम दूसरी बस्ती में पहुँचे। यह बस्ती भी भगियो की है, किन्तु इसमें कुछ अच्छी स्थिति के भगी रहते है। ये लोग बैलगाड़ी से ठेके पर कूडा-कर्कट ढोनेवाले है। इसलिए खाने-पीने की इन्हे कमी नही। इनमें एक जवान तो बड़ा बलिष्ठ मालूम होता था। पता लगा कि यह कसरत करता है, पहलवान है। एक बूढा चौधरी मिला। उसका मकान काफी साफ-सुथरा था। हाथ में

सोने की अँगूठी और कमीज मे चाँदी के सटकेदार बटन थे। सूरत-शक्ल से ब्राह्मण-सा मालूम होता था; क्योकि चेहरे पर सौम्य था। अगर कोई बताता नही तो यह पता भी न चलता कि यह भंगी है। इनमे सफाई थी, भलमंसी थी, खाने-पीने को पल्ले मे था, पर एक चीज का दारिद्र्य था। वह था सम्मान। आर्थिक दशा ठीक होने पर अपमान की यन्त्रणा असहनीय हो जाती है। पहली बस्ती वाले भंगी बुरी हालत में थे, इसलिए अपमान उन्हें नही खटकता। किन्तु इन लोगों की दशा साधारणतया ठीक है, इसलिए अपमान इनके लिए असह्य बन गया है।

हम पहुँचे, तो गली के एक कोने मे ये बैठे गप्पे हाँक रहे थे। चूँकि वे भंगी-जैसे नही मालूम होते थे, इसलिए मैंने पूछा, "क्या भंगियो का यही मुहल्ला है?" यह सुनते ही उनमे जो बूढा था उसकी आँखें लाल हो गईं। क्रोध के मारे वह तमतमा उठा। उसने कड़क के जवाब दिया, "तुम्हे क्या काम है?" कुछ ठहरकर बोला, "हाँ, यही है।"

मैंने पूछा, "क्या तुम भी भगी हो?" उसने कहा, "हूँ, तो क्या?" मैंने पूछा, "तुम्हारे लड़कों की पढ़ाई का यहाँ क्या हाल है।"

अब तो वह बिलकुल ही उघड़ पड़ा। कहने लगा—"तुम लोगो ने कोई पाठशाला भी खोली है, जिसमें लड़को

को पढ़ाते ? सदियो तक तुम लोगों ने हम पर तबाही बरपा की। हमारे कानो में कीले ठुकवा दिये कि हम कोई अच्छी बात न सुन पाये। अब जब तुम लोगो पर आफत आई है, तब दौड-दौड़कर हमारे मुहल्लो में आ धमकते हो और हमें गले लगाने का दिखावा करते हो; मगर तुमने किया क्या है ? आते हो और चले जाते हो। उस दिन कुछ औरतें भी यहाँ झाड़ू लेकर फेर गईं। हमने उनसे कहा, हमें स्कूल खुलवा दो। मगर उसके बाद न स्कूल ही खुला और न किसी ने तब से सूरत ही दिखाई। आर्य-समाज की पाठशाला पास में है। पर उसमें लड़के भेजें तो कैसे भेजें ? कोई हमदर्दी तो है नही। पचास तरह की शर्तें लगाते हैं। कहते हैं, लड़को को साफ करके भेजो; यह करो, वह करो। हम बच्चों को सफाई कैसे सिखायें ? सदियो से गन्दगी की आदत पड़ी हुई है, और अब हमसे कहते हो, लड़को को जरा साफ करके भेजो। अब हमने पादरियो को लिखा है कि वे यहाँ पर आकर स्कूल खोले। अब जब वे स्कूल खोलेंगे तब हमारे बच्चे पढ़ेंगे। पढना तो सब चाहते है; मगर तुम हमें पढने दो तब न।"

बूढे का नाम रग्घू था। वह न तो शिक्षित था और न नये जमाने की बहकवाला। तो भी धारा-प्रवाह उर्दू में उसने ऐसी फटकार बताई कि मैं अवाक् रह गया। किन्तु

जो कुछ उसने कहा वह सत्य तो था ही, इसलिए जवाब भी तो मेरे पास कहाँ था ? मैंने पूछा, "तुमने पादरियो को क्यो लिखा ?" मेरे प्रश्न ने तो मानो बूढे के दिल की धधकती हुई आग में ईंधन का काम दिया। उसने कहा—"क्यो न लिखे ? उनसे बढ़कर हमारा हितू आज और कौन है ? उन्ही के जरिये तो हम लोगों में थोडी-सी आदमियत आ रही है। उन लोगों की सेवा का कुछ ठिकाना है !"

किसीने धीरे से मेरे कान में कहा कि ये लोग ईसाई भंगी है। मैंने पूछा, "क्या तुम ईसाई हो ?" अब तो रग्घू की साँस क्रोध के मारे तेजी से चलने लगी। उसने कहा—"हमारे धर्म से मतलब ? सारे अछूत ईसाई बन जायेंगे, बनते जा रहे हैं। वे क्यो न ईसाई बनें, ऊँची जातिवाले तो अछूतों को पास भी नही फटकने देते हैं।" मैंने कहा, "मै तो सिर्फ जानने के लिए ही पूछता हूँ कि क्या तुम ईसाई हो ?"

तीन-चार मेहतर जो वहाँ पर खड़े थे, एक स्वर से बोल उठे कि, "अजी ईसाई तो नही है—है तो हिन्दू ही; मगर पादरियो के सिवा हमदर्दी और कहाँ है, जिससे उन्हे लिखे बिना ही हमारा काम चल जाये ?"

इसी बीच में रास्ते चलते कुछ उच्चवर्ण के हिन्दू भी वहाँ पर ठहर गये थे। वे सब बाते सुन रहे थे। उनमे से

एक नें, बीच में पड़कर, ख्वाहमख्वाह, हम लोगो का परिचय दे ही डाला। अब तो रघू बिलकुल कातर हो गया। उसका क्रोध भी पलभर मे चला गया। कहने लगा, "माई-बाप, मै कान पकड़ता हूँ। गुस्ताखी हुई। इसके लिए माफी चाहता हूँ।" यह कहते हुए सचमुच उसकी आँखो मे आँसू भर आये।

मैने कहा, "गुस्ताखी तुमने नही की, हम लोगो ने की है, जो आज तुम्हारी यह दशा है।" अब तो हमारी बातो का रग बदल गया। कड़वाहट के स्थान पर मिठास आ गई।

अब हमने उनके कर्ज के सम्बन्ध मे पूछताछ शुरू की। रघू के साथ प्रभुदयाल भी बोलने लगा। उसने कहा—"कर्ज का ब्याज देते-देते ये लोग थक जाते है। एक ने १०००) लिये थे, अब तक ६५००) ब्याज-पेटे अदा कर चुका है, (पास मे साहूकार की एक बड़ी हवेली थी, उधर इशारा करके) फिर भी मूल कर्ज़ा चढ़ा हुआ है। रघू ने २५०) लिये थे, मगर ६५०) का दस्तावेज लिखाया गया। अब ब्याज चुकाते-चुकाते थक गया।"

हमसे सब कहने लगे, "अब बनिये से हमारा फैसला करा दीजिए।" मैंने कहा, "क्या ऐसे भी लोग है, जिनके पास देने को नही है ?" उसने कहा, "अवश्य है।" तो

मैंने कहा, "ऐसे लोग तो हर्गिज देने के लिए बाध्य नही हो सकते। देने को जिनके पास नहीं, उन्हें चाहिए कि वे कोर्ट मे नादारी की दरखास्त देकर कर्ज़ से पिंड छुड़ा लें।" आधे मिनट के लिए तो सन्नाटा-सा छा गया। सहज ही ऋण से कैसे मुक्त हो सकते है, इसका उन्हें कुछ प्रिय आभास हुआ किन्तु यह सुख-कल्पना आधे मिनट से ज्यादा नही ठहरी। प्रभुदयाल ने हाथ जोड़ कर कहा, "माई-बाप, यह तो नही हो सकता। बनिये की ज्यादती हो या न हो, हमारे पास पैसे हों या न हों, इस तरह से हम ऋण-मुक्त कभी न होगे। या तो हमारा फैसला करा दो, या बनिया जो मांगेगा वही जब हमारे पास होगा तब हम दे देंगे।"

मै यह सुनकर हैरान हो गया। मैंने कहा, "किन्तु जिनके पास नही है, वे कैसे दे सकते है?" प्रभुदयाल ने कहा, "जबतक कमायेगे तबतक देंगे। हम नही, तो हमारे बाल-बच्चे देंगे।" इनकी इसी भलमंसी पर मै तो अवाक् रह गया। मैंने कहा—"भाई, अच्छा फ़ैसले की ही कोशिश हम लोग करेंगे।"

आश्चर्य है कि इतना अत्याचार होने पर भी इन लोगों की धार्मिक भावना जाग्रत है। जिस नज़र से ये अपने कर्ज़ों को देखते है और जिस नैतिक दायित्व को ये

महसूस करते हैं थोड़े ही उच्चवर्ण वाले मनुष्य इस तरह का दायित्व समझते होंगे। इस मामले मे ज्यादा बहस करना अनावश्यक समझकर हम आगे बढ़े।

जब बस्ती से बाहर निकले तो सहसा कवि की यह उक्ति स्मरण हो आई —

"शक्ल इन्सान में छिपा था तू मुझे मालूम न था।
चाँद बादल में छिपा था मुझे मालूम न था।"

[२]

इसके बाद और अनेक बस्तियो मे चक्कर काटे। रैंगरो की बस्ती देखी, भगियो की अनेक बस्तियां देखी और चमारो की बस्तियां भी देखी। कैसी भी हृदय-विदारक भाषा में इसका वर्णन क्यों न किया जाय, असली तस्वीर को पाठकों के हृदयगम करा देना लेखनी की शक्ति के बाहर की बात है।

"घायल की गति घायल जाने, जे कोई घायल होय।"

हम लोग दर्शक बनकर जानेवाले आखिर घड़ी-आध-घड़ी ऊपरी दृष्टि से उनका कष्ट भले ही देख लें, असल में तो उनका दु ख वही महसूस कर सकता है जो रातदिन वही रहता हो। सक्षेप में, इतना ही कहा जा सकता है कि उनको न तो शुद्ध हवा मिलती है, न बहुतायत से पानी मिलता है, न प्रकाश मिलता है और न पेटभर खानें को

अन्न या ओढने को वस्त्र ही मिलते है। भगियो को म्युनिसिपैलिटी से जो वरदी पहननें को मिलती है उसे तो उनका चौबीसों घटों का साथी समझिए। उसी वरदी को पहनकर वे मैला भी ढोते है और उसी को पहनकर खाना भी खाते है।

जो परिवर्तन इन वर्षो में हरिजनों में धीरे-धीरे होता दिखाई दे रहा है, वह यह है कि इनके आत्म-सम्मान की मात्रा अधिकाधिक बढ़ती जा रही है। गाँवो में तो यह नही के बराबर है। शहरो में और खासकर उन हरिजनों में यह अधिक है, जिन्हे कुछ थोड़ी-सी शिक्षा मिल गई है और जिनकी आर्थिक अवस्था कुछ थोड़ी-सी सुधर गई है। जिनकी आर्थिक दशा अत्यन्त गिरी हुई है उन्हें तो मान-अपमान का खयाल करने की भी फुर्सत कहाँ? किन्तु जिनकी आर्थिक दशा कुछ सुधरी है उनका असतोष बेतरह बढ़ रहा है। यह स्वाभाविक भी है। ईसाई, मुसलमान उन्हे उनकी गिरीहुई दशा का स्मरण दिलाते रहते है। हिन्दू-समाज द्वारा उन पर किया गया जुल्म हिन्दू-धर्म में उनकी श्रद्धा की जड़ें खोखली कर रहा है। धर्म-परिवर्तन करने पर उनका दर्जा कितना बढ़ सकता है— जिस हिन्दू हरिजन को न कुएँ से पानी लेने दिया जाता है, जिसे छूनें मे पाप माना जाता है, उसी हरिजन को

धर्म-परिवर्तन करने पर स्वय उच्चवर्ण के हिन्दू ही कितनी इज्जत देने लग जाते है—हिन्दुओ के इस बेढगेपन से हरिजन नावाकिफ नही है। इस बेढगेपन की ईसाई, मुसलमान, सुधारक हिन्दू सभी ढोल पीट-पीटकर अपने-अपने ढग से चर्चा करते है। इसे हरिजन भी सुनता रहता है और यह उसके दिल में हलचल मचाने में सहायक बनता जा रहा है। नतीजा यह हो रहा है कि कितने ईसाई बनते जा रहे है तो कितनो के हृदय में असतोष बुरी तरह लहरे मार रहा ह। इतना होने पर भी आश्चर्य तो यही है, कि अबतक ये हिन्दू बने हुए है। किन्तु हिन्दू-धर्म के नामपर जब इन्हें कोई उपदेश देने जाता है तो सहज ही यह खयाल होता है कि क्या इसीका नाम हिन्दूधर्म है कि जिसके माननेवाले मनुष्यो को कुत्ते-बिल्ली तो क्या मक्खी से भी बदतर समझे।

एक मुहल्ले मे चमार और भगी पास-पास मे रहते है। चमारो का एक कुआं है। उसमे से भगियो को ये लोग पानी नही निकालने देते। मैंने चमारो के चौधरी से कहा कि ऐसा न होना चाहिए, तो उसने टका-सा जवाब दे ही डाला कि "क्यों साहब, आप भी तो हमें कुओ पर नही चढ़ने देते।" उसने बताया कि किस प्रकार पास की बस्ती में एक ब्राह्मण जब नहा रहा था तो इस चमार की

लड़की को पास मे खड़ी रहने देने में भी उसे आपत्ति थी। इस चमार ने कहा, "मैंने बात बढ़ने के डर से अपनी बेटी से कह दिया, "बेटी हट जाओ।" किन्तु यह अपमान उसे अब भी सता रहा था।

इस धधकतीहुई आग का क्या परिणाम होगा यह कौन बता सकता है ? इतना अवश्य है कि गांधीजी ने इसपर ठंडा पानी छोड़ा है। एक से मैंने पूछा "जानते हो, तुम्हारे लिए गांधीजी मर रहे है ?" उसने कहा, "उन्हे कौन नही जानता ? वे ही एकमात्र हमारे आधार हैं।" किन्तु उच्चवर्ण वाले हिन्दू जबतक इस भूल को नही समझेंगे, मुझे भय है कि कड़वाहट बढ़ती ही जायगी। अछूतोद्धार के आन्दोलन से जो जाग्रति आ रही है उसके कारण भी हरिजन अपनी अपमानित अवस्था को अधिक स्पष्टता से देखने-जानने लगे है और यदि हिन्दू-समाज ने अपना रुख नहीं बदला तो लाखों की तादाद में हरिजनो को हम खो बैठेंगे, इसमे मुझे कोई शक नहीं।

कार्य की गुरुता और जटिलता को विचारने पर नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प लोगों के चित्तों में सहज ही उत्पन्न होते है। "यह तो महाभारत-जैसा काम है। रामानुज, नानक, कबीर, दयानन्द जिस बात को नही बना सके क्या गांधीजी उसे पूरा करने में समर्थ होंगे ? कितने

करोड़ हरिजन और फिर उच्च वर्णवालो की सदियो की इनके प्रति घृणा, गाँवो में शिक्षा का अभाव और अध-विश्वास ! ऐसी हालत में क्या हमे सफलता मिल सकती है ? और फिर हरिजनो में भी तो गदगी, शराबखोरी, जुआरीपन आदि दुर्गुणो ने घर बना लिया है । इनका सुधार कैसे होगा, कब होगा ? इसमे तो कम-से-कम सैकड़ो वर्ष लग जायेंगे । एक-एक बस्ती मे दसो वर्ष सुधार में लग सकते है।" ऐसे-ऐसे विचार सहज ही मनुष्य को पस्तहिम्मत बना देते है । ऐसे संकल्प-विकल्प भी कही-कही पाये जाते है (और ये उन लोगो में जो अछूतपन को हिन्दूधर्म मे एक पल के लिये भी बर्दाश्त करने को तैयार नही है !) कि "अछूतो को यदि हम शिक्षित बना देंगे तो उनके प्रति उच्चवर्ण द्वारा किया गया अपमान उन्हे और अधिक खटकने लगेगा और कही वे अधिक संख्या में विधर्मी तो न बनने लग जायँगे ? कही हमारा आज का यह पवित्र उद्योग उलटा हमारे ही लिए तो घातक न बन जायगा ? इसलिए क्यो न रोटी से पहले हम उनके सामने 'राम' रखें ?"

इसका उत्तर तो मुझे एक बस्ती मे मिला, जहाँ एक भगियो के गुरु उन्हे हस निर्वाण (सिंध देश के एक जीवित सन्त) के कुछ पद सुना रहे थे । भंगी बाबाजी के पद

सुनते जाते थे; किन्तु बार-बार उन्हे बतलाते जाते थे कि— "बाबाजी, हमारे यहाँ पानी का बड़ा कष्ट है।" सुदामाजी नें जब अपनी स्त्री को ब्रह्मज्ञान से संतुष्ट करना चाहा तब उसने कह ही डाला "मने ज्ञान नाथी गमतूं ऋषिरायजी रे, बाळक माँगे अन्न लागूं पायजी रे।" यह सच है कि "भूखे भजन न होहि गोपाला।"

"इस आन्दोलन में कितनी सफलता मिलेगी या इसी आन्दोलन के कारण इनके आत्म-सम्मान की मात्रा जाग्रत होजाने पर यह कहीं अधिक संख्या में ईसाई तो न बनने लगेंगे?" यह सारी-की-सारी विचार-धारा ही मुझे तो दूषित मालूम होती है।

सेवा करनेवाले का तो केवल सेवा ही अधिकार है, फलाकांक्षा का नहीं। "कर्मण्येवाधिकारस्ते।" "हमारी सेवा से कहीं उलटा फल न लग जाय, ऐसा विचार करना ही ईश्वर मे विश्वास की कमी प्रकट करना है।" "स्वल्प-मप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।" "न हि कल्याणकृत् कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति।" "कौंतेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।" इन वाक्यों का यदि कोई अर्थ है तो हमें निश्चिन्त रहना चाहिए और भरोसा रखना चाहि कि सेवा का फल, यदि वह बिना किसी लोभ के की गई है, तो अच्छा ही होगा।

और यदि मान लिया जाय कि ईश्वर की ऐसी ही इच्छा है कि यह सब लोग ईसाई या मुसल्मान बन जाये तो क्यो न बने ? "Oh Lord ! Thy will be done" "यद्भाव्यं तद्भवतु भगवन्" कह के हमें सतोष ही मान लेना होगा। यह तो निश्चित बात है कि बिना उसकी मर्जी के तो इस ससार मे एक पत्ता भी नही हिलता। इतना सोच लेने पर पस्तहिम्मती या निराशा के लिए कोई गुजाइश नही रह जाती।

बात यह है कि मनुष्य अल्प है, उसकी शक्ति अल्प है, अत. उसका कार्यक्रम भी अल्प होता है। पस्तहिम्मती की तह मे अभिमान होता है। हम पहले ही अपनी शक्ति बड़ी मान लेते है, फिर कार्य की गुरुता सामने आने पर उत्साह टूटने लगता है। जहाँ अपनी शक्ति को अल्प मान कर ही काम आरम्भ किया जाय, वहाँ उत्साह टूटने के लिए कोई गुजाइश नही होती क्योकि वहाँ शुरु ही से ईश्वर को रखवाला मान लिया जाता है। अहर्निश अपनी शक्ति की निर्बलता का भान करनेवाले गांधीजी ने भी अछूतों के उद्धार के लिए २१ दिन के उपवास द्वारा ईश्वर का ही दर्वाजा खटखटाया है। आखिर इतने बड़े जहरीले रोग के लिए ईश्वर-आराधना के बिना उद्योग अकेला क्या कर सकता था ? शुद्ध उद्योग वही है जिसमे उद्योग की कमी

न हो, अपनी निर्बलता का ज्ञान हो, फल क्या होगा इससे बेफ़िक्री हो। बाकी के उद्योग तो "हूँ करूं, हूँ करूं एज अज्ञानता।"

पस्तहिम्मती-उलूहिम्मती; उत्साह-अनुत्साह; आशा निराशा के झोंकों में न पड़कर इनकी सेवा में लग जाना यही सच्चा उद्योग है। आगे का मालिक तो भगवान् है।

..........I do not ask to see
The distant scene; one step's enough for me.

'दूर देश की मोहिं न तृष्णा;
इक डग सों सन्तोष।'

सेवक के लिए तो मानो यह गायत्री है।

१९ मई १९३१

: ७ :

आचार बनाम प्रचार

गाधीजी ने 'हरिजन-सेवक-सघ' के विषय में लिखते हुए एक बार परामर्श दिया था कि संघ का खर्च इस प्रकार हो कि कुल व्यय मे से नव्वे फी सदी तो सीधा हरिजनो की जेबो में ही पहुंच जाय। पिछली बार जब संघ की बैठक पूना में हुई, तो उस सवाल पर काफ़ी बहस हुई। प्रश्न यह था कि कुल बजट में से प्रबन्ध और प्रचार-कार्य पर कितने फी सदी व्यय किया जाय? प्रबन्ध-सम्बन्धी व्यय का तो अर्थ है केवल दफ्तर का खर्च, जैसे मकान का किराया, मत्री आदि का वेतन, कागज, कलम, दावात, डाकव्यय, मार्गव्यय इत्यादि। इस प्रश्न पर निर्णय करने में तो कोई कठिनाई नही हुई। सर्वसम्मति से यह तय होगया

कि प्रबन्ध पर बीस फ़ी सदी से अधिक व्यय न किया जाय। असल कठिनाई तो प्रचार के सम्बन्ध में उठी। प्रचार-कार्य में व्यय को मर्यादित करना एक तरह से हरिजन-सघ के मूल उद्देश्य पर कुठाराघात करना है, ऐसी कई लोगो की सम्मति थी। उनकी दलील यह थी कि "आखिर अछूतपन एक मानसिक रोग है, जिससे सवर्ण हिन्दू पीड़ित है। उसकी एकमात्र दवा है सवर्ण हिन्दुओ में प्रचार करना और वह भी सवर्ण हिन्दुओ द्वारा। हरिजनो मे भी सफाई, शराब-बन्दी, मुर्दार-मास-बहिष्कार की आवश्यकता है। किन्तु उसकी पूर्ति के लिए भी जरूरत है प्रचार की। यदि सौ-दो-सौ छात्रवृत्तियाँ दे दी; सौ-पचास कुएँ बनवा दिये; दस-बीस नये मन्दिर तैयार करवा दिये तो इससे थोड़े ही अछूतपन दूर हो गया। सार्वजनिक मन्दिरों मे भी हरिजनो को बेरोक-टोक दाखिल करवाने मे प्रचार की ही आवश्यकता है।" यह संक्षेप में ऐसे लोगो की दलील थी, जो प्रचार-व्यय को संकुचित या मर्यादित नही करना चाहते थे।

चूंकि प्रचार-कार्य के व्यय को मर्यादित करने मे जबरदस्त आग्रह गाधीजी का था, इसलिए इन सारी दलीलो को उन्हींके सामने रख देना उचित जान पड़ा। जो कुछ उन्होने कहा, बिना किसी बहस के सदस्यो ने उसे मान

लिया। उन दिनो उपवास के कारण महात्माजी की शक्ति क्षीण थी, इसलिए भी लोगो ने ज्यादा बहस न की। किन्तु एक बात स्पष्ट मालूम होती थी कि लोगो ने अपने दिलो में आधुनिक प्रचार-कार्य के परिणाम का अन्दाज कुछ अतिशयोक्ति के साथ कर रक्खा था। प्रचार के सम्बन्ध में लोगो का जितना आग्रह था उससे कही अधिक आग्रह गाधीजी का था। गाधीजी स्वयं भी एक जबरदस्त प्रचारक है। गाधीजी का जो विरोध था वह था केवल वैतनिक प्रचार के सम्बन्ध मे। वैतनिक प्रचारक और स्वयं अपने आचरण द्वारा संसार को शिक्षा देनेवाले प्रचारक मे कितना अन्तर है, इस बात की लोग प्राय. अवहेलना करते थे। यद्यपि यह तय हो गया कि प्रचार पर कम-से-कम खर्च किया जाय किन्तु इस निर्णय से शायद बहुत कम लोगो को संतोष हुआ। इसलिए इस सम्बन्ध में विशेष विचार आवश्यक जान पड़ता है।

प्रश्न यह है कि अछूतपन को मिटाने के लिए आधुनिक प्रचार अधिक कारगर हो सकता है या रचनात्मक कार्य द्वारा हरिजनों की सेवा ? ऐसे भी सज्जन है, जिन्हे यह भय है कि पढ़ने-लिखने से और बढ़तेहुए असतोष के कारण हरिजन विधर्मी बन जायंगे। वे भी क़रीब-करीब प्रचार-पक्षियो की-सी ही दलीलें देते है और सेवा-कार्य के

बजाय धार्मिक प्रचार पर ज्यादा जोर देते हैं। गांधीजी भी हरिजन-कार्यक्रम को धार्मिक कार्य ही मानते हैं; किन्तु मतभेद यह रह जाता है कि यह धर्मयज्ञ प्रचार से सफल हो सकता है या सेवा-कार्य से ? अतः पहले प्रचार और प्रचारक के सम्बन्ध मे ही हम विचार कर लें।

यह बात साधारण मनुष्य भी जानता है कि जब हमें किसी अध्यापक की आवश्यकता होती है तो हम ऐसे व्यक्ति की तलाश करते हैं जो अपने विषय का पूर्ण पण्डित हो। यह किसी को बताने की जरूरत नही कि इतिहास के पंडित की कानून पढ़ाने की चेष्टा उसका दुःस्साहस मात्र होगा। अध्यापक ही क्यों, मोटर चलाने जैसी साधारण क्रिया के लिए भी तो हम सिद्धहस्त व्यक्ति को ही पसद करना चाहेंगे। तो भी धार्मिक शिक्षा के बारे में हम यह मान बैठते है कि कोई भी मनुष्य, चाहे उसका आचरण कितना ही शकास्पद क्यो न हो, संस्कृत के श्लोको का साधारण अनुवाद कर सकता हो तो धार्मिक शिक्षा के लिए उपयुक्त हो सकता है ! किसी कुशाग्रबुद्धि मनुष्य का केवल इतना ही ज्ञान, कि मोटर चलाने के लिए अमुक रीति से क्लच (Clutch) दबाई जाती है और हाथ का चक्का फिराया जाता है, उसे मोटरड्राइवर बनने का अधिकारी नही बना देता। यदि उसने अच्छी तरह से

मोटर चलाने का अभ्यास नही किया है, तो केवल उसके काल्पनिक ज्ञान के आधार पर न तो उसे मोटर चलाने का लाइसेंस ही मिल सकता है, न ऐसे व्यक्ति द्वारा चलाई मोटर में बैठकर कोई अपनी जान ही जोखिम मे डालना चाहेगा। किन्तु मोटर-ड्राइवरी-जैसी साधारण वस्तु के लिए जितनी छान-बीन करते है, ठीक उसके विपरीत धार्मिक शिक्षा-जैसी महान् वस्तु के लिए हम यह सोचने की आवश्यकता नही समझते कि धार्मिक शिक्षक बनने के लिए गीता के श्लोको का अनुवाद के रूप में जमा-खर्च ही पर्याप्त नही है। काल्पनिक ज्ञान के अलावा शिक्षक मे आचरण की भी, या यो कहिए केवल आचरण की ही, आवश्यकता है।

काल्पनिक ज्ञान न भी हो, तो गाड़ी चल सकती है। किन्तु धर्माचरण के बिना धार्मिक शिक्षा के लेन-देन का कोई अच्छा नतीजा हो ही नही सकता। इस समय धार्मिक शिक्षा के सम्बन्ध मे लोगो के कुछ अद्‌भुत विचार बन गये है और यही कारण है कि धार्मिक शिक्षा, धार्मिक प्रचार के नाम पर धन का इतना निष्फल व्यय हो रहा है।

प्राचीन काल में ब्रह्मज्ञान की शिक्षा पाने के लिए देवताओ के राजा इन्द्र सत्याचरणी प्रजापति के पास गये, तो उन्होने इन्द्र को ३२ वर्षतक ब्रह्मचारी रखा और फिर

उन्हें ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया। वास्तव में उपदेश तो क्या दिया, ब्रह्मचर्य पालन कराके और अपना आदर्श सामने रखकर ब्रह्मा ने इन्द्र से धर्माचरण ही कराया। शाब्दिक ज्ञान भी दिया किन्तु असल ज्ञान का तो आचरण द्वारा ही सम्पादन कराया गया। यह कोई असाधारण घटना नही थी क्योंकि आखिर तो धर्म सीखने के लिए धार्मिक पुरुषों की संगति और स्वयं धर्माचरण करना ही सार-वस्तु है। उस समय का एक मामूली तरीका था कि राजा-महाराजा लोग धर्मजिज्ञासा के लिए धर्माचरणी ऋषि-मुनियो के पास (वैतनिक प्रचारको के पास नही) जाया करते थे तथा स्वयं धर्माचरण द्वारा धर्म-लाभ किया करते थे। वास्तव में, धर्म का प्रचार एक मशीन की क्रिया की भांति वैतनिक प्रचारकों द्वारा (जिनका आचरण उनके कथनानुसार हो या न हो) उतना ही असम्भव है, जितना कि एक काल्पनिक ज्ञान रखनेवाले के द्वारा मोटर का चलवाना।

प्राचीन काल में जब-जब धर्म की हानि हुई तब-तब लोगों ने अधर्म को हटाकर धर्म की स्थापना के लिए तप का आसरा लिया—प्रचार का नही। कहते है कि त्रेता में जब धर्म का अत्यंत ह्रास हो गया, तब ऋषियो को धर्मोद्धार की चिंता हुई। उस समय संसार इतना आचरण-

हीन होगया था कि तुलसीदासजी के शब्दो में—

"अस भ्रष्ठ-अचारा भा संसारा, धर्म सुनिय नहि काना,"

बेचारी पृथिवी (जनता) भी अकुला उठी । काफी सोच-विचार के बाद ऋषि-मुनियो के पास पहुँची तथा अपना दुखडा रो सुनाया । ऋषि-मुनि भी हैरान थे । यदि आजकल का ज़माना होता, तो 'प्रोपेगैण्डा' (प्रचार) की सूझती, किन्तु वे थे अनुभवी लोग, इसलिए ऐसी भूल सम्भव न थी । आखिर सब पहुँचे प्रजापति के पास और वहाँ परामर्श होने लगा । किसीने कहा, नारायण से प्रार्थना की जाय । परन्तु इनमे ऐसे भी लोग थे, जो यह नही जानते थे कि नारायण कहाँ मिलेगे ? किसीने कहा कि वैकुण्ठ तक दौड़ लगानी चाहिए, तो किसीने कहा कि वह तो क्षीरसागर में मिलेगे । बूढ़े महादेव बाबा भी वही उपस्थित थे । उन्हे लोगो का यह अज्ञान अखरा, तो बोले :—

"हरि व्यापक सर्वत्र समाना; प्रेम ते प्रगट होंहि मै जाना ।
देशकाल दिशिविदिशहु माँहीं; कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं"

आखिर सब समझदार तो थे ही, बात समझ मे आ गई और लगे तप करने । अन्त मे उनका तप सफल हुआ और आकाशवाणी हुई—

हरिहौं सकल भूमि-गरुआई; निर्भय होहु देव-समुदाई ।"

हमारे इतिहास-पुराणो मे अधर्म का नाश और धर्म की स्थापना के लिए ऋषि-मुनियों ने बार-बार सत्य, तप तथा अहिंसा का आसरा लिया है, यह सुप्रसिद्ध बात है। सती को शिवजी की चाह हुई तो तप किया। प्राचीन काल मे धर्म-प्रचार के लिए आधुनिक प्रचार-जैसी कोई वस्तु विद्यमान रही हो, ऐसा नही जान पड़ता।

बहुत-सी बातें हमें पश्चिम से मिली हैं। वैतनिक प्रचार भी उनमें से एक है। अखबारो, पुस्तकों, पर्चो, कारखानों तथा बिजली-द्वारा मुद्रण तथा भाषण-प्रसार इत्यादि प्रचार की आधुनिक शैलियां हैं। इन साधनों द्वारा खूब प्रचार होता है, इसमे कोई सन्देह नही; परन्तु इन साधनों द्वारा सत्य का प्रचार भी हो सकता है या नही, यह प्रश्न तो सन्देहास्पद है। गोलमेज कान्फ्रेस को जाते समय गांधीजी के साथ पत्र-संवाददाता भी थे। एक ने लिख मारा कि गांधीजी के साथ एक प्यारी पालतू बिल्ली है, जिसे गांधीजी अपने साथ खिलाते है तथा सुलाते है। दूसरे ने यह लिख मारा कि गांधीजी ने प्रिन्स ऑव वेल्स के पैरों पर अपना सिर रखकर अभिवादन किया था। कुछ ने गांधीजी के बारे में और भी उलटी-सीधी लिख मारी। इनमें दो तो गाधीजी के मित्रो में से थे। इसलिए गांधीजी ने उन्हे डॉट बतलाई, किन्तु उन्होने

हँसकर कह दिया कि कुछ नमक-मिर्च लगाये विना खबर फबती नही । साराश यह है कि महात्माजी के लाख प्रयत्न करने पर भी झूठ का प्रचार होता ही रहा ।

लन्दन मे गाधीजी ने अखवारवालो की एक सभा बुलाई और असत्य समाचार छापने की शिकायत की । 'डेली हेरल्ड'वालो ने, जो मजदूर पक्ष का मुख्य पत्र है, और जो कुछ अंशो मे सच्चे पत्रो मे से गिना जाता है, बहाना बनाने के लिए यह कहा कि इसमे हमारा क्या दोष है ? हमे तो जैसी खबरे मिलती है, छाप देते है । गाधीजी ने उत्तर में कहा—"मै अपने खर्च से तुम्हे सच्ची खबरे पहुँचाऊँगा, क्या तुम उन्हे छाप दोगे ?" तब तो सन्नाटा छा गया । गाधीजी की यह चुनौती उन्होने स्वीकार न की ।

आज भी तरह-तरह की झूठी बातो का प्रचार नये-नये साधनो द्वारा सहज ही हो रहा है । गत महायुद्ध में तो इन्ही साधनो द्वारा काफी झूठ का प्रचार किया गया था । इसमें साधनो का दोष नही है । बात यह है कि इन साधनो के सञ्चालक व्यापारिक दृष्टि से इनका उपयोग करते है । चूकि उनका ध्येय पैसा कमाना मात्र ही होता है, न कि सत्य-प्रचार; इसलिए मनोरञ्जन के लिए या ठकुरसुहाती के लिए उन्हे असत्य का भी आश्रय

लेना ही पड़ता है। वैतनिक प्रचारकों के द्वारा लोगो को हम यह भले ही दिखा दे कि अमुक चाय ही सबसे अच्छी चाय है तथा अमुक बनावट की सिगरेट ही सबसे बढिया सिगरेट है किन्तु धर्म का प्रचार इस तरह की विज्ञापनबाजी से सम्भव नही।

तप से विज्ञापन नही फैलता, ऐसी बात नही है। सिगरेट तथा चाय की विज्ञापनबाजी तो थोड़े ही दिन जी सकती है, मगर महापुरुषो के जीवन का कीर्त्तिगान आज भी हमारे पुराण हजारो वर्षो बाद उसी तरह गा रहे है। लाख प्रस्तावो और व्याख्यानों ने जो काम नही किया वह गांधीजी के एक उपवास ने कर दिखाया। जिस प्रचार के पीछे केवल धन की शक्ति रहती है, वह जीवित नही रह सकता। तप का यश अमर होता है। धन के बल पर कोई धर्म फैला हो, इसका इतिहास में कोई प्रमाण नही मिलता। हाँ, धन के बल पर (Conversion) तबलीग और शुद्धियाँ अवश्य हुई है किन्तु इनके कारण धर्म (दैवी सम्पदा) नही फैला। श्रीकृष्ण भगवान् ने जब गीता कही, तब अर्जुन से कहा कि :—

"इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥"

इनका 'गोपनीयं' 'गोपनीय' कह देने पर भी गीता

का यश विश्वव्यापी इसलिए हो गया कि इसके पीछे इसके वक्ता का सात्विक तेज एव आध्यात्मिक ऐश्वर्य था। प्रचार से यहाँ विरोध नही है। तात्पर्य यह है कि धार्मिक प्रचार विना तप के हो ही नही सकता। जैसे विना बारूद के बन्दूक की गोली बेकार है, वैसे ही विना तप के प्रचार धन का निष्फल ही व्यय है। कठोपनिषत्कार ने लिखा है :—

"न नरेणावरेण प्रोक्त एष : सुविज्ञेय :"

अर्थात्—अनाप्त पुरुष द्वारा कहाहुआ ज्ञान हृदयगम नही हो सकता।

उपर्युक्त बातो से सिद्ध है कि अछूतोद्धार को यदि हम धर्म-प्रचार का एक अंग मानते है तो वह प्रचार से नही, तप ही से सफल हो सकता है। और तप के माने है सेवा। जो समझते है कि सौ, दो सौ छात्र-वृत्तियाँ क्या काम कर सकती है, वे भूल जाते है कि —

"स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।"

नि स्वार्थ भाव से की गई छोटी-सी सेवा भी हजारो व्याख्यानो और अन्यान्य आधुनिक धर्म-प्रचार-मार्गो से लाख दर्जे अच्छी है।

२५ अगस्त १९३३

: ८ :

उत्कल में पाँच दिन

जब गांधीजी ने उत्कल में पैदल पर्यटन शुरू किया तो सुना कि सवेरे-सांझ छाँह में चलते हैं, आम्रकुंजों में टिकते हैं, तारों-जड़े आसमान के नीचे सोते हैं। खाने को खेतों से ताजी तरकारी मिलती है। आम तो ऊपर ही लटकते रहते हैं, तोड़ लिये और खा लिये। दूध सामने दुहा, पी लिया। गांधीजी के साथ कुछ दिन रहने का आनन्द और उसी के साथ ऊपर-नीचे, दायें-बायें, प्रकृति के सुहावने दृश्यों का यह मनमोहक विवरण किसके लिए लुभावना न होगा? आखिर मैं भी पहुँच ही गया। पहुँचते ही देखता हूँ कि गांधीजी ५ फीट लम्बी-चौड़ी एक तंग कोठरी में बैठे लिख रहे हैं। एक लड़का पंखा झल रहा है। बाहर छाया में दरियों पर

लोग इधर-उधर पड़े हैं, कोई खा रहा है, कोई सो रहा है।

गाधीजी ने कहा, "अच्छे समय पर पहुँचे। कल तो रात को वर्षा के मारे परेशानी रही। रातभर कोई सोया नही। एक तग कोठरी में २५ जनो ने बैठकर रात बिताई।" सुनते ही मेरा माथा ठनका। गाधीजी ने मेरी ओर इशारा करके एक भाई से कहा, "अच्छा इनके खाने का क्या प्रबन्ध है?" मैंने कहा, "जी, दूध लिया करता हूँ।" किसीने आहिस्ते से कहा, "दूध तो नही है।" अपनी परेशानी छिपाने के लिए मैंने कहा, "कोई चिन्ता नही, आमो से काम चल जायगा।" श्री मलकानीजी मेरे अज्ञान पर मुस्कराते हुए कहने लगे, "यहाँ आम कहाँ?" मैंने साहस करतेहुए कहा, "देख लेंगे।" "खा लेंगे" ऐसा तो कैसे कहता। अन्न हज़म होता नहीं, फल-दूध का यहाँ नाम नही। गांधीजी ने कहा, "अच्छा, नहा तो लो।" कुएँ पर गया। अन्दर झाँका तो पानी मे कीचड भरा था। ऐसा पानी पीने की तो कौन कहे, पाँव धोने में भी सूग आती थी। किसी तरह बदन को साफ-सूफ करके पोखरे की पाज पर दरी डालकर सो रहा। सोचा, खाने-पीने को न सही, सो तो लें। दो घटे के बाद एक स्वयसेवक दो गाँवो में 'हाँड' कर पाँच बकरियाँ दुहाकर आध सेर दूध लाया। उसे हसरतभरी निगाह से देखकर मैं पी गया। पीने के बाद ही ध्यान में आया कि

न मालूम यह पाँच बकरियाँ कितने बच्चो का मन भरती। पेट तो आध सेर दूध से कितनों का क्या भरता ! फिर लम्बी साँस लेकर लेट रहा। स्व० बंकिमबाबू ने भारतवर्ष की वन्दना मे इसे 'सुजला सुफलाँ शस्यश्यामला' कहा है। उत्कल मे भी जल की कमी नही। सुफला भी है। भूमि उपजाऊ है। पर न "सुखदा" है, न "वरदा"। बाढ खूब आती है। और शान्तनु जैसे पुत्र पैदा करता था और गगा उन्हे बहा ले जाती थी, वैसे ही उड़िया बोता है और बाढ सब कुछ बहा ले जाती है। जहाँ हम लोग बैठे थे वहाँ बाढ़ आने पर पुरसों पानी चढ़ जायगा। खेती नष्ट हो जायगी। पशु मर जायँगे। मकान गिर जायँगे। घर से निकलना मुश्किल हो जायगा। बीमारी फैल जायगी। लोग बेमौत मरेंगे। बाढ के चले जाने पर लोग थके-माँदे फिर खेती करेंगे। फिर झोंपड़ी की मरम्मत करेंगे और फिर बाढ से लड़ने की तैयारी मे लगेगे।

शायद बाढ़ की मार से उड़िया इतना शिथिल हो गया है कि अब उसमें उत्साह नही। शायद दु ख को भूलने के लिए ही अफीम की लाग भी लगा ली है। आँखो म न तेज है, न उत्साह। बाढ-निवारण के लिए सरकार ने एक कमेटी बैठाई। उसने कुछ अच्छी-अच्छी सिफारिशें भी की, पचासेक लाख का खर्च बताते है। यदि इन सिफारिशो पर चला

जाय तो उड़िये के जीवन मे एक नई स्फूर्ति आ जाय, एक नई आशा पैदा हो जाय। पर फुर्सत किसे ? बाढ़-निवारण कमेटी की जाँच-रिपोर्ट आज सरकारी आलमारियो की शोभा बढा रही है। सुना, सिफारिशो के अमल मे लाने से कुछ ज़मीदारो को भी क्षति है, इसलिए भी आगे बढ़ने मे रुकावट है। मध्यप्रान्त से पानी चलता है, जो उत्कल मे आकर बाढ उत्पन्न करता है। रेल न थी, तब पानी सीधा समुद्र मे जा गिरता था। अब रेल और नहरो के बनने के बाद उनकी पाज के कारण पानी को रुकावट हो गई है ऐसा इस विषय के विशेषज्ञ लोग कहते है। दुखी, दरिद्र, दीन उत्कल की यह करुण-कहानी किसका दिल नही दहला देगी ? यमलोक मे पहुँचने के लिए वैतरणी नदी पार करनी पडती है, उत्कल में भी वैतरणी नदी है। मानो यह नाम यमलोक और उत्कल का सादृश्य दिखाने के लिए ही किसीने रखा हो। फर्क इतना ही है कि यमलोक में भूख नही लगती, उत्कल मे लगती है।

ऐसे प्रदेश मे गाधीजी क्या आये मानो भगवान् ही आ गये। उत्कल में गोपबाबू का, मेहताबाबू का, जीवाराम-भाई का अलग-अलग आश्रम है। गाधी-सेवाश्रम नाम का एक और आश्रम है। ये सभी आश्रम उड़ीसा की सेवा में रत है। जैसे हाथी के खोज मे सभी खोज समा जाते है, वैसे

बाढ़ो में जितनी संस्थाएँ सेवा के लिए उत्कल मे पहुँचती है उनके बारे मे उड़िया यही समझता है कि यह गाधी के ही आदमी है । अब तो गाधीजी स्वय आ गये, इसलिए उड़िये के हर्ष का क्या ठिकाना । उड़िया समझता है, अब दुःख दूर होगा । इसलिए गांधीजी के सामने कीर्तन करता है, नाचता है, स्त्रियाँ उलूध्वनि करती है । दो-दो हज़ार आदमी साथ में चलते है, प्रार्थना में हज़ारो मनुष्य आते है, और बडे जतन से तांबे के टुकड़े पैसे, अघेले, पाई लाते है जो गाधीजी के चरणो मे रख जाते है । "भोजने यत्र सन्देहो धनाशा तत्र कीदृशी !" पर उडिया भूखा है तो भी गाधीजी को देता है । बीस-बीस कोस से चलकर आने वाले नरककाल का, धोती की सात गाँठो मे से सावधानीपूर्वक एक पैसा निकालकर गांधीजी के चरणो में रख देने का दृश्य सचमुच ही रुलानेवाला होता है ।

वर्षा आरम्भ होते ही पैदल यात्रा मे रुकावटें आने लगी । गावो मे झोंपडियो की तो वैसे ही कमी रहती है और गांधीजी का दल ठहरा सौ-डेढसौ आदमियो का । जबतक वर्षा न थी, तबतक तो आकाश के नीचे सो लेते थे । अब झोपड़ियो की जरूरत पड़ने लगी और रात को कष्ट होने लगा । कीडे-मकोड़े, कनखजूरे बुरी तरह लोगो के बिस्तरो पर चक्कर काटने लगे । एक दिन डेरे के पास

ही बड़े-बड़े चार साँप भी देखने में आये । रात को ओस के मारे कपड़े सब के भीग जाते थे । लोगो के बीमार होने की आशका होने लगी, किन्तु गाधीजी के वातावरण मे किसीको इसकी फिक्र न थी । मुझे लगा कि मैं गाधीजी से कहूँ कि यदि वर्षा मे यह दौरा जारी रहा, तो मण्डली मे बीमारी फैल जाने की आशका है ।

भद्रक से जब हम लोग १२ मील की दूरी पर एक गाँव मे पड़ाव डाले पडे थे, तब मैंने इसकी चर्चा छेडी । गाधीजी को बात जँची । कहने लगे "अच्छा, तो कल एक ही मजिल मे हम भद्रक पहुँच जायँगे ।" मेरे लिए तो एक मजिल मे १२ मील तय करना कठिन काम था । इसलिए मैंने मोटर से जाना निश्चित किया । गाधीजी अपने दल के साथ मुझसे अढ़ाई घटा पूर्व चले और यद्यपि मैं मोटर से चला, तो भी गाधीजी मुझसे आध घटा पहले ही भद्रक-आश्रम मे पहुँच गये । रास्ते मे लोगो से पूछने पर पता चला कि गाधीजी बडी तेजी से चलते जा रहे थे और उनको पकडने के लिए उनके साथवालो को उनके पीछे-पीछे दौडना पड़ता था । पैंसठ वर्ष की अवस्था में गाधीजी की यह शारीरिक शक्ति अवश्य ही चित्त को प्रसन्न करती है । इसका रहस्य उनका संयमी जीवन है । दिन-भर मे करीब एक सेर दूध और दो छटाँक शहद, उबालीहुई

तरकारी और कुछ आम—यह उनका सारा भोजन है। रात को आमतौर से वह दो-तीन बजे नीद से उठ जाते है और जब संसार सोता है तब वह जागतेहुए काम करते रहते है। इतना शारीरिक परिश्रम इस उम्र में अवश्य ही एक अद्भुत चीज है। जब इतनी फुरती के साथ गांधीजी को १२ मील की मंजिल तय करते देखा, तो मैंने मन-ही-मन मिन्नत की कि भगवान् हमारे भले के लिए उन्हे लम्बी उम्र दे। जो लोग गाधीजी के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में कुछ जानना चाहते हो, वे जान लें कि इन वर्षों में गाधीजी को मैंने इतना स्वस्थ नही देखा। देश के लिए यह सौभाग्य की बात है।

उत्कल के सेवको के विषय मे कुछ लिखना आवश्यक है। इनमे गोपबन्धु चौधरी और श्री जीवरामभाई दो के नाम विशेष उल्लेखनीय है। दोनो मानो सेवा के साक्षात् अवतार है। गोपबन्धुबाबू तो असल वैष्णव है। "पर दुःखे उपकार करे तोये मन अभिमान न आणे रे"। यह अपने जमाने में डिपुटी-कलेक्टरी कर चुके किन्तु सेवा के लिए सब कुछ छोड़ा। अभिमान तो मानों इनको छू नही गया। जीवरामभाई का यह हाल है कि लाखो रुपये छोड़कर सेवक बने। हम लोग जब सो जाते थे, तब यह रात को अकेले डेढ़ सौ आदमियो का पायखाना साफ करते

थे। धन्य है इनकी जननी को !

इस यात्रा मे हास्य रस की भी कमी नही थी। मिस्टर ब्यूटो (Buto) एक जर्मन युवक है, जो इस यात्रा में गाधीजी के साथ घूमते थे। उनका त्याग तो अव्वल दर्जे का है। गाँव मे खाने की तो यो ही कमी थी। श्री ब्यूटो हट्टेकट्टे जवान और बचपन से मास पर पले हुए। इसीलिए अधभूखे रहते थे, पर अत्यन्त प्रसन्न। एक तहमद पहनकर फिरते थे। जवान तो है ही, मूँछे अभी आई नही। गाँववाले पड़ाव के चारो तरफ सैकडो की सख्या मे सुबह से शामतक झाँकते रहते थे कि उन्हे गाधीजी का दर्शन हो जाय। इस बीच मे तरह-तरह की चर्चा करते थे। एक ने ब्यूटो की तरफ अँगुली उठाकर कहा कि मीरा बहन यही है। सबको हँसी आ गई। कोई कहता था, जवाहरलाल भी साथ आया है। गाधीजी कौन-से है यह भी उन दर्शको के लिए एक पहेली थी। एक ने मीरा बहन को देखकर कहा कि यही गांधीजी है। दूसरे ने किसी अन्य की ओर इशारा करके कहा, नही, गाधीजी यह है। तीसरे ने कहा, नही गाधीजी तो महात्मा है, वह सबको दिखाई नही देते !

गांधीजी के दल के लिए ऐसी-ऐसी बातें टानिक का काम देती रहती थीं। किसीने बताया कि मीरा बहन एक

मर्तबा जनाने डिब्बे में मुसाफरी करती थी। इतने में टिकट-कलेक्टर टिकट देखने आया। मीरा बहिन का सिर तो मुंडा हुआ है ही। टिकट कलेक्टर आया उस समय ओढ़नी सिर पर से उतर गई थी। टिकट कलेक्टर ने समझा कि यह पुरुष है और कहने लगा "आपको पता है, यह जनाना डिब्बा है?" मीरा बहन नें तुरन्त अपनी ओढ़नी सिरपर खींची। टिकट कलेक्टर बेचारा झेंपकर चलता बना। हम लोगों ने यह कहानी सुनी तो हँसते-हँसते आँखों में आँसू आ गये।

उत्कल की यह यात्रा हँसी और रुलाई का एक अद्भुत सम्मिश्रण थी।

२२ जून १९३४

: ९ :

हिन्दुओं को नैतिक चुनौती

डाक्टर अम्बेडकर ने जबसे हिन्दू-धर्म त्यागने का अपना निश्चय प्रकट किया है तबसे चारों तरफ एक तहलका-सा मच गया है। हिन्दूजाति पर आज सदियों से आफत आ रही है और कब इसका अंत होगा, इसका कोई ठिकाना नहीं है। पर हिन्दू जनसमाज में जैसी सामुदायिक जाग्रति आज दिखाई देती है, वैसी शायद सैकड़ों वर्षों में भी न देखने में आई होगी। इसीलिए इस चोट से सार्वजनिक खलबलाहट-सी दिखाई देती है और हिन्दू-नेता जी-जान से इस फिक्र में हैं कि अम्बेडकर हिन्दू नाम को न छोड़ें। किसी एक आर्यसमाजी सज्जन ने तो यहाँ तक कह डाला है कि यदि अम्बेडकर के कोई सुपुत्र हो

तो वह अपनी लड़की उसे ब्याह देने को तैयार है। अन्य सज्जन हिन्दू-धर्म की महत्ता दिखाते हुए अम्बेडकर से धर्म-त्याग न करने की प्रार्थना करते हैं। सुना है, पूज्य मालवीयजी अम्बेडकर को समझाने जानेवाले हैं; पर इसका कोई फल होगा, ऐसी उम्मीद करना बेकार है।

ईसाई, मुसलमान आदि भी अम्बेडकर का दरवाज़ा ज़ोरों से खटखटा रहे हैं और उन्हें अपने-अपने धर्म की महत्ता दिखा रहे हैं। क्या हिन्दू, क्या ईसाई और क्या मुसलमान सभी यह समझ बैठे हैं कि जहाँ एक अम्बेडकर ने धर्म छोड़ा, लाखों हरिजन हिन्दू-धर्म को तिलाञ्जलि दे देंगे, और हिन्दुओं को जिस बात का भय है वही बात ईसाई और मुसलमानों के लिए आशा की किरण है। इसलिए हिन्दू एक तरफ़ और अन्यधर्मी दूसरी तरफ़! इनके बीच काफ़ी खींचातानी है।

दोनों पक्षवाले ख्वाहमख्वाह धर्म की महत्ता दिखाते हैं। धर्म तो—

> धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
> धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

यह है। और यह कहना चाहिए कि जिसमें ये दस लक्षण पाये जायँ वही भागवत, आर्य या हिन्दू है। इसी तरह मुसल्लम-बा-ईमान (पूर्ण धार्मिक) ही मुसलमान

कहलाना चाहिए। पर आज तो ये सब बाते पोथी-पत्रो तक ही सीमित है। न तो इन दस लक्षणो की कसौटी पर कसे जाने के कारण ही कोई हिन्दू कहला सकता है और न मुसलमान कहलाने के लिए मुसल्लम-बा-ईमान होने की जरूरत है। हिन्दू, मुसलमान आदि शब्दो की परिभाषा तो अब समाज-विशेष तक ही परिमित है। अम्बेडकर को भी कोई आध्यात्मिक उधेड़-बुन नही है, जो अन्वेषण करने मे लगे हो कि इन दस लक्षणोवाला धर्म श्रेष्ठ है या इस्लाम। उन्हे तो 'हिन्दू' नाम अखरता है और वह उसे छोड़ने की फिक्र में है। हमे भी इसी बात की फिक्र है कि वह बराय नाम भी हिन्दू बने रहे, चाहे उसमे सत्य धर्म रहे, चाहे जाय। सख्या बनी रहे, यही चिंता है; और यह तृष्णा यदि स्वच्छ हो तो कोई अनुचित भी नही है। "घण जीतेरे राजिया।" "कलौ संघशक्तिः।" पर क्या इस कूद-फाद या बेतुकी बौखलाहट से हमारी सख्या बढ सकती है, अथवा जितनी है उतनी भी कायम रह सकती है?

दु.ख के साथ कहना पडता है कि अम्बेडकर की इस चुनौती से जहाँ काफी उत्तेजना है, वहाँ शान्त और सुस्पष्ट सूझ-समझ का दिवाला-सा दिखाई पड़ता है। एक रोगी की जान बचाने के लिए पचासो उपचारक

भिन्न-भिन्न दवाइयाँ लेकर उसे पिलाने का हठ करे तो रोगी के रहे-सहे दिनो का भी खात्मा ही समझना चाहिए। एक बहुत बड़े बाँध में, जो चलनी की तरह छिद्रोवाला हो गया हो और जिसमे से फुहारे बड़े जोर से फूट रहे हो, निकलते हुए पानी को लोटो-लोटो भर-भरकर रोकने का प्रयास करना हास्यास्पद ही होगा। इस सम्बन्ध की हमारी कार्रवाई भी कुछ वैसी ही है। अम्बेडकर को भीतर रखने की जितनी चिंता हो रही है, उसका शतांश भी हिन्दू-शरीर को स्वस्थ करने की नही। बेमरम्मत हिन्दू-समाज-रूपी घर चाहे अम्बेडकर को रख ले, तो भी वह और लाखो अम्बेडकर खो बैठेगा। हमारी सख्या का आधार हिन्दू-जमात के सुधार पर ही अवलम्बित है।

आश्चर्य तो यह है कि ऐसे विकट समय मे भी हम वस्तुस्थिति को देखने से इन्कार कर रहे है। आज तक हजारो विधवायें, अनाथ और हरिजन विधर्मी बन गये है और बनते जा रहे है। मै एक भी ऐसे नव-विधर्मी को नही जानता जिसने कुरान या बाइबिल पर आशिक होकर चुटिया कटाई हो। किसी ऐसे समाज-परित्यक्त से पूछिए, वह बतायेगा कि हिन्दू-समाज को उसने नही, किन्तु समाज ने उसे त्याग दिया है। फिर अम्बेडकर के

इस निश्चय पर इतनी घबराहट क्यो ? और यदि रोग से मुक्त ही होना अभीष्ट है तो हम यह क्यो नही देखते कि अम्बेडकर भी उसी पुरानी लकीर पर जा रहे हैं जिसपर से करोड़ो हिन्दू त्रस्त होकर हिन्दू-समाज को तिलाञ्जलि देते हुए गुजर गये है। जब कोई लडकी मुसलमान द्वारा भगाई जाती है तब हमे मुसलमानो पर रोष आता है; पर क्यो नही हम अपनी नालायकी पर रोष करते जो उस लडकी के भगाये जाने की जिम्मेदार थी ?

कुछ वर्षो की बात है। एक मारवाडी लड़की को एक मुसलमान भगाकर ले गया। समाज को काफी रोष हुआ। खिलाफत का जमाना था, इसलिए यह मसला मुसलमान नेताओ तक पहुँचाया गया। उन्होने शरमा-शरमी में आकर कुछ मदद भी की; पर लड़की के जब वापस आने की आशा बँधी तब सबके चेहरो पर स्याही दौड़ गई। सवाल यह हुआ कि उस लडकी को उसके घरवाले रख सकते है या नही ? पचो ने व्यवस्था दी कि वह घर मे नही आ सकती। नौजवानो ने रोष दिखलाया, पर उनकी एक न चली। आखिर वह लड़की नही आई, वही अपघात करके मर गई। हिन्दू-समाज ने यह साबित कर दिया कि लडकी ने हमको नही, किन्तु हमने लड़की

को छोड़ा। यह पन्द्रह वर्ष की बात हुई। आज भी किसी विधवाश्रम में जाकर वहाँ रहनेवाली किसी विधवा का इजहार लीजिए। कुछ ऐसी ही कथा सुनने को मिलेगी।

पर अब कुछ तुरत-ताजा बानगी भी देखिए। वर्धा के पास एक छोटा-सा सिंदी ग्राम है। वहाँ मीरा बहन (मिस स्लेड) ने ग्रामोत्थान का कार्य प्रारंभ किया। वहाँ वह एक छोटी-सी झोपड़ी बनाकर रहने लगी। जब पहले-पहल वहाँ पहुँचीं तब कौतूहलवश लोग इकट्ठे हो गये और उनसे तरह-तरह के प्रश्न पूछने लगे। पानी की जरूरत पड़ी, तब एक नौजवान पानी ले आया और घड़े मे पानी डालकर चला गया। पर यह कौतूहल कबतक ठहरता ? आखिर दूसरे दिन मीरा बहन को पानी की जरूरत पड़ी तब घड़ा लेकर कुएँ पर पहुँची। जिन चेहरों पर पहले मैत्री का प्रकाश था वही आँखे दिखाने लगे और बोले—"आप यहाँ पानी नही निकाल सकतीं, पानी चाहिए तो अपना अलग कुआँ बनवालो"। एक बनिये के कुएँ पर गईं, महारो (हरिजनों की एक उपजाति) के कुएँ पर गईं, मांगों (हरिजनो की एक दूसरी उपजाति) के कुएँ पर गईं, पर मीरा बहन के घड़े को कुएँ में डलवा कर कुआँ कौन अपवित्र करावे ! गाँववाले मीरा बहन की प्रार्थना में आते हैं, अपना दुःख-दर्द सुना जाते हैं, पर अपने

कुएँ मे मीरा बहन का घडा नही जाने देते। मीरा बहन दवा देती है तब सब लोग ले जाते है; ब्राह्मण भी ले जाते है, पर दवा बिना स्पर्श किये ऊपर से डालनी पडती है, नही तो ब्राह्मण अपवित्र हो जाय! मीरा बहन कितना ही उपकार क्यो न करे, पर पानी नही मिलने का। अम्बेडकर के जाने से हमारा समाज नही डूबेगा, पर यह सुलूक है जो हमारे समाज को डुबो देगा।

जो हमारी संख्या कायम रखना चाहते है उन्हे अक्ल से काम लेना चाहिए। चाहे एक हिन्दू लड़की मुसलमान द्वारा भगाई जाय या एक लावारिस धोखे से मुसलमान बना लिया जाय, चाहे एक हरिजन प्रलोभन से ईसाई बन जाय अथवा अम्बेडकर हिन्दू-समाज को तिलाजलि देने का निश्चय करें, यह सब एक ही रोग के भिन्न-भिन्न लक्षण है। जानेवाले खुद नही जा रहे है, उन्हे हम भगा रहे है। हिन्दू-घर को हमने हरिजन, विधवा, अनाथ और जाति-बहिष्कृतो के लिए रहने लायक नही रक्खा; ऐसी हालत मे जो हो रहा है वह अनिवार्य है। सख्या कायम रखना है तो अम्बेडकर को या किसी अन्य बाहर जानेवाले को रोकने से नही, अपने घर की सफाई करने से ही तात्पर्य सिद्ध होगा। कलेजे को चाक करके साँस को कायम रखने का प्रयास करना मूर्खता नही तो क्या है?

हिन्दू-समाज का भला हो यदि अम्बेडकर के इस निश्चय से हमें कुछ सबक मिले। क्या हम अम्बेडकर को भूलकर समाज की सफाई मे नही लग सकते ? सौ कथनी से एक करनी हजार बार अच्छी है; पर इस समय तो केवल फिजूल का होहल्ला है, इसमें करनी का नितान्त अभाव है।

११ जनवरी १९३६.

: १० :

ईश्वर-भजन अर्थात् लोक-कल्याण

कुछ महीने की बात है—एक सज्जन ने गांधीजी को लिखा कि अब आप ससार मे थोड़े ही दिनो के मेहमान है, इसलिए बेहतर यह है कि आप सारे काम-धाम को छोड़कर अपना अन्तिम समय हरि-भजन में बितावे। गांधीजी ने जो उत्तर भेजा, उसका भावार्थ यह है :—

"आपने लिखा यह ठीक है, पर हम अन्तिम समय को ही ईश्वर-भजन में बितावे और बाकी जीवन में बेफिक्र रहे,यह सारी भावना भूल भरी है—हमारी गर्दन तो हर क्षण काल के हाथो में पडी है, इसलिए सारा-का-सारा जीवन ही अन्तिम घड़ी है, ऐसा मानना चाहिए। और मेरी बात तो यह है कि मेरा प्रतिक्षण ईश्वर-भजन ही में व्यतीत होता है।"

गांधीजी का यह कथन कोई अनोखा नहीं है। जो लोग भजन का अर्थ आँख मूंदकर बैठ जाना करते हैं, उन्हें चाहे यह बात कुछ आश्चर्यमय सी भले ही लगे। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है : "यज्ञः कर्म समुद्भवः" अर्थात् यज्ञ का कर्म में ही समावेश है। "नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।" किसी भी मनुष्य का एक क्षण भी कर्म के बिना नहीं बीतता। प्रश्न इतना ही है कि वह कर्म 'स्व' के लिए होता है या 'पर' के लिए। जो कर्म 'पर' के लिए है, वही यज्ञ है। स्वार्थी लोग जिस तरह आसक्त होकर अपने लिए कर्म करते हैं, महापुरुष अनासक्त होकर निरन्तर लोगों के कल्याण के कर्म करते हैं। श्रीकृष्ण ने कहा—मेरे लिए तीनों लोकों में कुछ भी कर्तव्य नहीं है, पर

"यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।"

यदि अंगड़ाई लेने की भी फुरसत लिए बिना मैं काम में न लगा रहूँ, तो लोग भी आलसी बन जायेंगे।

गांधीजी की भी आज वही हालत है। बिना विश्राम लिए वह हर क्षण 'पर' के लिए कर्म करते हैं, अर्थात् उनका यज्ञ बराबर चलता ही रहता है। फिर क्यों न वह कह सकें कि मैं हरिभजन में लगा हुआ हूँ?

अक्तूबर १९३८.

बिखरे विचार

: १ :

मुझसे सब अच्छे

मुझे सवेरे टहलने की आदत है। प्रात काल की शुद्ध हवा मनुष्यो को नया जीवन दे देती है। जब-जब मैं घर पर रहता हूँ, सवेरे का भ्रमण एक प्रकार का नियम-सा हो गया है। एक रोज सवेरे टहलने निकला तो वायु की परमार्थ-वृत्ति पर विचार करने लगा।

पश्चिमी हवा चल रही थी। मैंने सोचा, यह वायु कितने परिश्रम के बाद यहाँ पहुँची होगी! कहाँ से चली, कितना उपकार किया, इसका अन्दाज कौन लगावे? भारत का पश्चिमी सागर यहाँ से करीब ६०० मील होगा; किन्तु इसके आगे अफ्रीका तक केवल निर्जन समुद्र ही समुद्र हैं। सम्भवत. उससे भी पश्चिम और पश्चिमतर के

प्रदेशो से पहाड़ियो, नदियों, समुद्रो, मनुष्यों, जीव-जन्तुओ को जीवन देती हुई यह पवन यहाँ पहुँची होगी; और अब यहाँ के लोगो को सुख देती हुई, अपने कर्तव्य-पालन के लिए, शान्तभाव से पूर्व प्रदेशों की ओर अग्रसर होगी।

मैंने सोचा, यह हवा इतनी सेवा करती है फिर भी अखबारो मे इसकी चर्चा क्यो नही होती ? हवा से मैंने कहा—"हवा ! तुम ससार का इतना उपकार करती हो; किन्तु तुम्हारी सेवा की खबर मे अखबारो में तो कभी नही पढता ? तुमको चाहिए कि जो थोड़ी-सी बात करो उसको बढा-चढ़ा के, अखबारो में छपा दिया करो।" हवा ने कहा—"कौन-सा अखबार अच्छा है ?" मैंने कहा—"हिन्दी-अंग्रेजी के बहुत से अखबार हैं। सभी में अपनी प्रशसा छपाया करो।" हवा नें पूछा, "क्या सूर्यलोक एवं चन्द्रलोक में भी तुम्हारे यहाँ के अखबार जाते हैं ?" मैंने कहा, "वहाँ तो नही जाते।"

हवा ने मेरी मूर्खता पर हँस दिया और कहा—"तुम पक्के कूप-मडूक हो, तुम्हारे लिए थोड़े-से लोग ही ब्रह्माण्ड हैं। मैंने तो प्राणिमात्र की सेवा का व्रत ले रखा है, और मेरा अखबार है मेरे ईश्वर का हृदय। वहाँ सब खबरे अपने आप पहुँचती हैं—भली-बुरी सभी बातें वहाँ छपती रहती हैं। किसी बात का वहाँ पक्षपात नहीं।

किसी के कहने से वहाँ कोई खबर नही छापी जाती है। सच्ची खबरें वहाँ स्वय छप जाती है। मै तुम्हारी तरह मूर्ख नही कि विज्ञापनबाजी के दलदल में फँस जाऊँ। निस्स्वार्थ भाव से चुप-चाप प्राणिमात्र की सेवा करना, यही मेरा धर्म है और मेरे स्वामी को भी यही प्रिय है। अच्छा हो तुम भी मेरा अनुकरण करो।"

हवा की यह स्पष्टोक्ति मुझे बडी बुरी लगी। मैं और हवा जैसी जडवस्तु का अनुकरण करूँ? मन में आया कि एक व्याख्यान ही झाड़ दूँ। अखबारो में तो उसका अतिरजित विवरण छप ही जायगा। किन्तु पवन को तो "लगन लगी प्रभु पावन की", उसे मेरा व्याख्यान सुनने की फुरसत कहाँ? वह तो "कामये दुःखतप्तानां प्राणि-नामार्तिनाशनम्" गाती हुई शीघ्रता से चल निकली।

तब मैंने अपना सारा गुस्सा एक ऊँट पर उतार दिया। बात यह हुई कि रास्ते में एक ऊँट महाशय अपनी थकान उतारने के लिए हाथ-पाँव पीट-पीट कर धूल उछाल रहे थे। मैंने गर्द से तग आकर, क्रोध में, ऊँट से कहा—"तुम बड़े गँवार हो, जरा भी तमीज नही है। पशु ही जो ठहरे। हम लोग जिन रास्तो से होकर निकलते हैं, उनमे गरीब मनुष्य भी किनारे खडे होकर झुक के हमे प्रणाम किया करते है। हम जब-जब टहलने जाते है तब-

तब हमारे लठैत नौकर रास्ते में चलनेवालों का नाकों-दम कर देते हैं। तुमने हमें झुककर प्रणाम करना तो दूर रहा, उलटा धूल उछालना शुरू कर दिया; इसीसे मालूम होता है कि तुम गँवार भी हो और धृष्ट भी।"

इस पर ऊँट ने अपना व्यायाम तो बन्द कर दिया, पर मेरी बात सुन कर खिल-खिला कर हँस पड़ा। बोला—"तुम मूर्ख तो हो ही, किन्तु अभिमानी भी हो। अभी तो तुम पवन को उपदेश देने की धृष्टता कर रहे थे। पवन तो आदर्श सेवक है, ईश्वर-भक्त है,—उसने तुम्हें कुछ नहीं कहा: किन्तु मुझे उपदेश देने की धृष्टता न करना। बस, यह समझ लो कि मुझसे तुम बहुत गये-बीते हो।" मैंने कहा—"ऊँट, तू पशु होकर मनुष्य को उपदेश देने चला है ! मुझे तेरी बुद्धि पर तरस आता है।" ऊँट की मुखाकृति गम्भीर हो उठी, आँखों में तेज चमकने लगा: अपने नयनों को फटकार कर उसने कहा—"क्या केवल मनुष्य-देह मिलने ही से मनुष्य अपने को मनुष्य कहने का अधिकारी हो जाता है ? क्या औरंगजेब, नादिरशाह, महमूद गजनी, हत्यारा 'अब्दुर्रशीद और ऐसे-ऐसे अनेक पापी अपने को मनुष्य कहने के अधिकारी हो सकते हैं ? और उन्हें मनुष्य-देह मिल गई, इसी बिर्ते पर क्या वे अपने को हम पशु से ऊँचा समझ सकते हैं ? यदि तुम भी ऐसा

मानते हो तो तुम्हारी बुद्धि को शतवार धिक्कार है।"

मैं कुछ ठडा पड गया। मैंने कहा—"भाई ऊँट, उन पापी मनुष्यो की बात न करो। वे तो नर-राक्षस थे। किन्तु, मैं तो ऐसा नही हूँ। मैं तो अपने लिए कह सकता हूँ कि अपनी समझ में, मैं तुमसे कही अच्छा हूँ।" ऊँट फिर हँस पड़ा। कहने लगा—"अच्छा, ज़रा बता तो दो, तुममें मुझसे कौनसी अच्छी बात है ?"

मैं सोचने लगा, क्या बताऊँ? आख़िर धन के अलावा मुझमे और कौन-सी अच्छी बात है जिसका मैं गर्व कर सकूँ ? अत्यन्त साहस करके मैंने दबी ज़बान से कहा—"अच्छा तो देखो, तुम जानते हो, मै त्याग से कितना प्रेम करता हूँ, सादगी से रहता हूँ, खादी पहनता हूँ, यह क्या कुछ कम है ?" ऊँट ने गर्व के साथ कहा, "इसमे गर्व करने की क्या बात है ? मुझे देखो, मैं तो कुछ भी नही पहनता।" मैंने कहा, "और सुनो, मैं भोजन भी सादा खाता हूँ, मिर्च-मसाले नही खाता।" ऊँट ने कहा, "अच्छा त्याग किया, मुझे तो देखो कि केवल सूखी पत्तियाँ ही चबाकर रह जाता हूँ।" मैंने कहा, "मैंने तो गृहस्थाश्रम का भी त्याग कर दिया है।" ऊँट ने कहा, "क्यो इतना अभिमान करते हो ? मैंने तो गृहस्थाश्रम मे प्रवेश ही नही किया—सो मै तो बालब्रह्मचारी हूँ।"

मैने कहा, "मुझमे ईर्षा-द्वेष अधिक नही, झूठ बहुत कम बोलता हूँ; सो भी अनजान में, रोष भी कम आता है।" ऊँट ने कहा, "इसमें कौन-सी बड़ाई की बात है ? मुझमे न ईर्षा है, न द्वेष, और न क्रोध; झूठ तो जीवन में कभी बोला ही नही।"

मैने कहा—"मुझ में सेवावृत्ति है।" ऊँट ने कहा "इसका नमूना तो हम रोज देखते है। कल एक पीला बछड़ा रो रहा था, क्योंकि उसकी माँ का दूध नित्य-प्रति तुम पी लेते हो। बछड़ा तृण खाकर जीवन-निर्वाह करता है। उस दिन, सुनते है, तुमने एक घोड़े को भी दौड़ कराकर मार डाला। शहर के तमाम घोड़ो मे इसी बात की चर्चा थी। उनकी एक विराट सभा हुई थी, उसमें मृतक के प्रति सहानुभूति और तुमारे प्रति घृणासूचक प्रस्ताव भी पास किये गये थे। न मालूम इस प्रकार तुमने कितने ऊँट, घोड़ो और बैलो को कष्ट दिया है। कितने पशुओं को लँगड़ा किया है। कितनों को अपनी मोटर के धक्को से गिराया है। अच्छा सेवा का दम भरने चले हो। मुझे देखो, न कपड़े पहनता हूँ, और न जिह्वा-स्वाद का नाम-मात्र भी सम्बन्ध है। केवल सूखे तृण खाता हूँ; फिर भी बेंत, कोड़े और ठोकरें खाता हुआ नम्रतापूर्वक तुम लोगों की सेवा करता हूँ। इसी को सेवा-व्रत कहते है।

तुम लोगों से सेवा कैसे सम्भव है ? पहनने के लिए तुम्हे कीमती वस्त्र चाहिए, खाने के लिए सुस्वादु भोजन, सेवा के लिए नौकर, रहने के लिए महल, टहलने के लिए अच्छे वाहन या मोटर; सफर करते हो तो मनो सामान एव सुख-सुविधा की सामग्रियाँ साथ में चलती है, तुम्हारे लिए और बोझा ढोना पड़ता है हमको। अकाल पडता है तो हम लोग भूखो मरते है, पीनें को पानी नही मिलता, किन्तु तुम्हारे बगीचो की फुलवाड़ी को सरसब्ज रखने में ही ग्राम के अनेक बैलों की शान्ति नष्ट हो जाती है। हम लोग प्राय. ब्रह्मचारी रहते हैं, किन्तु सुनते हैं, तुम्हारा मनुष्य समाज इस विषय में बड़ा पतित है। शर्म की बात हैं कि इस पर भी तुम अपने को हम से श्रेष्ठ समझो।"

ऊँट की बात मेरे हृदय में चुभ गई। मुझे ग्लानि होने लगी। अन्तरात्मा कहने लगी—"मूर्ख, तू ऊँट से भी गया-बीता है।" पास में खड़े हुए करीर के वृक्ष नें सिर हिलाकर कहा—"ऊँट सच कहता है।" तब मैंने कहा—"प्रभो ! मुझे ऊँट जितना आत्म-बल तो दे दो।"

सहसा आकाश में बिजली चमकी। मेघ गर्जा। सुननें वालो ने सुना। कहनेवालो ने कहा:—

"मो सम कौन कुटिल खल कामी ?
जेहि तन दियो ताहि बिसरायो,

ऐसो निमक हरामी।
मो सम कौन कुटिल खल कामी ?"

किसी ने कहा, कहने वाला और सुनने वाला दोनों एक हैं। किसी ने कहा, यह कलाकार है। मैंने चिल्ला कर कहा—"तुम से सब अच्छे हैं।"

मार्गशीर्ष, १९८४.

: २ :

परदा

कवि अकबर ने जब अपनी जाति से परदे की प्रथा को उठते देखा, तो उनके मुख से सहसा निकल गया—

बेपरदा नजर आईं कल जो चन्द बीबियां।
अकबर जमीं में ग़ैरते क़ौमी से गड़ गया॥
पूछा जो उनसे आपका परदा वह क्या हुआ?
कहने लगीं कि अक्ल पै मर्दों की पड़ गया॥

महाकवि अकबर अहले-इस्लाम के और अपने दीन के पाबन्द थे। कुरान शरीफ में परदे की जोरो से आज्ञा है और इसलिए अपनी जाति को कुरान के फरमान के खिलाफ जाते देख अगर वह "ग़ैरते कौमी" से 'जमीं' में क्या, पाताल में गड़ जाते, तो कोई अचम्भे की बात न कही

जाती, किन्तु हिन्दू जाति न तो क़ुरान शरीफ की ही क़ायल है और न उसके यहाँ "बेपर्दगी" हराम है। फिर भी जब परदे का अन्त होते देख कुछ भाई—जो बुरी-से-बुरी रुढ़ि को भी सनातन-धर्म मान बैठे हैं और जिनका प्राचीनत्व अबसे १०० या २०० वर्षों तक ही सीमित है—परेशान होते हैं और परदे के लोप में सनातन-धर्म का ही ह्रास देखते हैं तो अवश्य आश्चर्य होता है। असल बात तो यह है कि हममें इतनी पराधीनता आ गई है कि काल के चक्र के साथ जो २ बुराइयां हममे आ गई हैं उनको सद्‌गुण और उनकी रक्षा करने को हम सनातन-धर्म मानने लगे हैं। बड़ी बालिकाओं के विवाह का विचार भी करो तो 'धर्म गया'! विधवा-विवाह का तो नाम भी सुनना नही चाहते। अछूत चाहे विधर्मी होकर हम पर शासन करें; परन्तु जब तक वे चुटिया रखते हैं हम उन्हे पास नही फटकने देते। हिन्दू जाति का ह्रास चुपचाप सहन करते रहेंगे। पराधीनता के बोझ को फूल-सा मानकर सिर पर लादे रखेंगे। विधवाओं की दुर्दशा को सुनकर कलेजा कड़ा कर लेंगे। 'संगठन' के सुर में भी सुर मिला देंगे; किन्तु जहाँ कोई क्रियात्मक संगठन की बात उठी कि बस "धर्म डूबा" कह कर झट विरोध करेंगे। यह हमारी गति-विधि है।

जो धर्म स्वयं तो क्या डूबे, डूबते हुए को भी उबार सकता है, उसकी हम अपने दुर्गुणो से रक्षा करने का दावा करें—इससे अधिक बालकपन और क्या हो सकता है ? जहाँ रुढ़ियो तक ही धर्म परिमित होता हो वहाँ परदे को हटाने के उद्योग में भी "धर्म डूबा" का भूत हमे डरा सकता है । "पुरानी सभी बातें बुरी और नई सभी अच्छी" अथवा "पुरानी सभी बातें अच्छी और नई सभी बुरी" इन दोनो में से एक भी सूत्र समझदार व्यक्ति पर असर नही कर सकता । फिर भी यह खोज करना अप्रासंगिक न होगा कि प्राचीन समय मे परदे का क्या स्थान था ।

यदि परदे का "घूघट" या 'बुर्का' ठीक अर्थ है, तो पुराणो के देखने से यह अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि यह प्रथा उस समय जारी नही थी । प्राचीन गुफाओं की चित्रकारी को देखने से भी यही निर्णय होता है । परदे का पर्यायवाची शब्द ही सस्कृत में नही मिलता । इससे यह अनुभव सहज ही में हो सकता है कि परदा आर्य प्रथा नही है । हमारी देवियो ने किसी किसी प्रान्त में जब साड़ी को तिलाजलि दे घाघरे (लहँगे) को अपनाया, शायद उसी समय परदे को भी धारण किया होगा । मुसलमानों के राज्य-काल मे हमने बहुत से मुसल-मानी रिवाजो को अपनी रूढ़ियों मे शामिल किया ।

हुक्का पीना, आसन-सिंहासन के बदले गद्दे-मसनदो के सहारे बैठना, सिर पर मुकुट के बदले बड़े साफों का बाँधना, स्त्रियो मे कर्णछेद, सूथन, कुर्त्ते व अनेक नये प्रकार के आभूषणो का प्रचार, नई तरह के केश-विन्यास, कब्रो की पूजा करना इत्यादि-इत्यादि अनेक क्रिया-प्रक्रियाओ को समय के अनुकूल फैशनेबिल बनने के लिए, हमने अपनाया। आज मुसलमानी राज्य नही है, परन्तु मुसलमानी सस्कृति के अनेक भग्नावशेष आज भी हममे अनेक रूढियों के रूप में मौजूद हैं और तुर्रा यह यह है कि उन्हे छोड़ने मे भी हम 'सनातन-धर्म' का ह्रास देखते हैं। बस, परदे का भी यही हाल है।

वास्तव मे तो, चाहे कोई वस्तु प्राचीन हो चाहे अर्वाचीन, जब तक हमें उसके लाभ का पूरा प्रमाण न मिले और उसकी बुराई प्रत्यक्ष हो, तो उसे बनाये रखना बुद्धिमानी नही। आखिर परदे के पक्ष में ऐसी कौनसी बात है, जो हमे उसकी ओर आकर्षित कर सके। परदे के पक्षपाती कहते हैं कि परदा उठा देने से स्त्रियो का शील कम हो जायेगा और अनाचार की वृद्धि होगी। उनके इस मत के पक्ष मे क्या प्रमाण है? यदि हम इस दलील को स्वीकार करलें, तो फिर उसका तार्किक निष्कर्ष तो यही निकलेगा कि प्राचीन समय में जब परदा

नही था तब आज की अपेक्षा स्त्रियो का शील गिरा हुआ था। इसी दलील के आधार पर यह भी मानना होगा कि मुसलमान स्त्रियो का शील हिन्दू स्त्रियों के शील से बढ़ा-चढा है—क्योकि मुसलमानो में हिन्दुओ की अपेक्षा परदे की कड़ाई है। परन्तु क्या ये बातें स्वीकार करने योग्य है? वस्तुस्थिति यह है कि प्राचीन स्त्रियो का शील वर्तमान समय से कही अधिक बढा-चढा था और हिन्दू स्त्रियो का शील मुसलमान स्त्रियो की अपेक्षा अच्छा नही तो बुरा अवश्य नही है। इसके अलावा गुजरात, महाराष्ट्र, मद्रास आदि प्रान्तो की स्त्रियो का शील—जहाँ परदे का नाम-निशान भी नहीं है—अन्य परदे वाले प्रान्तो से किसी भी प्रकार नीचा नही है। हमारे देश के गरीबो में तो परदे का रिवाज बहुत कम है, फिर भी धनिको में गरीबो की अपेक्षा अधिक अनाचार है। शहरो में ग्रामो की अपेक्षा परदे की बहुतायत होने पर भी ग्रामो की अपेक्षा शहरो मे चरित्र-दोष अधिक है। ऐसी हालत में यह कैसे माना जा सकता है कि परदे की प्रथा उठने से स्त्रियो के शील को ठेस पहुँचने का भय है? थोड़े दिन पहले मैंने यह प्रश्न एक विदुषी देवी के सामने, जो बम्बई के एक प्रख्यात वनितागृह का सचालन कर रही ह, रखा था। यह देवी नारी मनोवृत्ति

से पर्याप्त अभिज्ञता रखती थी। उनको मेरी उलझन पर बेहद दया आई। परदे से भी शील का कोई सम्बन्ध हो सकता है, यह बात उनकी समझ के बाहर थी।

स्वास्थ्य की दृष्टि से तो परदा एक जंगली प्रथा है। हिन्दू-संगठन की दृष्टि से परदा घातक है। यह तो किसी से छिपा नही है कि युवावस्था में पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक मरती है। मुसलमान स्त्रियो को हिन्दू स्त्रियो की अपेक्षा संक्रामक रोग अधिक सताते है। कारण स्पष्ट है, जहाँ शुद्ध वायु और व्यायाम का अभाव हो, वहाँ स्वास्थ्य निभना कठिन है। यदि हिन्दू-संगठन के कार्यक्रम में शारीरिक सगठन को भी कोई स्थान है तो अवश्य ही हम स्त्रियों के शारीरिक संगठन की उपेक्षा नही कर सकते। बंगला गाय से उत्पन्न हुआ बैल मार-वाड़ी साड के मुकाबले मे अच्छा हो, इस आशा को बलवती बनाने के लिए हमें बंगला गाय की नसल को बलिष्ठ बनाने का उद्योग करना होगा। जो लोग स्त्रियो की उन्नति के बिना ही हिन्दू-संगठन का सुख-स्वप्न देख रहे हों, वे धोखे मे है। आज संसार का कोई स्वतन्त्र या अर्द्धस्वतन्त्र राष्ट्र ऐसा नही कि जहाँ स्त्रियों की दशा भारतवर्ष जैसी शोचनीय हो। यदि हिन्दू जाति को जीवित रखना है, बलिष्ठ बनाना है, स्वराज्य लेना है तो

अवश्य ही हम स्त्रियों को अपना उपयोगी मित्र बनावें।

आदर्श गृहिणी कैसी हो इस सम्बन्ध में कहा है—

"कार्येषु मन्त्री करणेषु दासी भोज्येषु माता शयनेषु रंभा।
मनोनुकूला क्षमया धरित्री गुणैश्च भार्या कुलमुद्धरंती॥"

हमारी देवियो मे चाहे और अनेक गुण आज भी विद्यमान हो, निश्चय ही वे "कार्येषु मन्त्री" की उपमा के योग्य नही है। और इसका सारा दायित्व पुरुषो पर ही ह, जिन्होने अपने स्वार्थ के लिए स्त्रियो का कर्तव्य केवल "करणेषु दासी" और "शयनेषु रम्भा" तक ही परिमित कर दिया है। परदे के कट्टर भक्त मिस्र और तुर्की मे स्त्रियो को उन्नत बनाने की चाह—और हिन्दुओ का लकीर के फकीर होना—यह हिन्दू-सस्कृति पर एक बड़ा धब्बा है जिसे धो डालना प्रत्येक विचारशील मनुष्य का पवित्र कर्तव्य है।

परन्तु जैसे और सुधारो के सम्बन्ध में वैसे ही स्त्रियो के सुधार में भी हमें विवेक की आवश्यकता है। सुधार का यह अर्थ नही है कि हम हर बात मे पाश्चात्य-प्रणाली को अपना ध्येय मान बैठे। जो कर्म, जो विचार, जो आचार, जो प्रणाली त्याग और सयम की भावना पर आश्रित हो, वे सभी अच्छे और जो स्वार्थ एव विषयो की बुनियाद पर अवस्थित हो, वे सभी बुरे।

स्त्रियों के सुधार का यह अर्थ नही कि हम उन्हें घूघट से निकाल कर 'हैट' के नीचे रख दें। परदा यदि विषयों एवं स्वार्थ की बुनियाद पर है, तो भारतीय स्त्रियो का पाश्चात्य सभ्यता मे रंग देना भी संयम से कोसो दूर होगा। जहां त्याग और संयम की भावना न हो वहाँ चाहे पूर्वी प्रणाली रक्खें चाहे पश्चिमी—फल दोनो का बुरा है। विलायती अफीम का टिंचर खालो, चाहे देशी अफीम की वट्टी निगल जाओ—दोनों का परिणाम मृत्यु होगा। हमें तो विष छोड़ अमृत पीना है। हमें पेरिस की मेमों की जरूरत नही, सीता-सावित्री की जरूरत है। और सीता-सावित्री बनाने के लिए हमें राम-सत्यवान बनना होगा—संयमी और त्यागी बनना पड़ेगा।

स्त्री-सुधार का प्रसंग छिड़ने पर एक मित्र ने मुझ से पूछा था कि हमारी स्त्रियाँ भी ऐड़ी वाले जूते और अंगरेज़ी कोट पहने तो कौन सी बुराई है? अवश्य ही इसमें कोई बुराई न होगी, यदि हमारा ध्येय भोगों तक ही परिमित हो। किन्तु यदि हमारी शिक्षित देवियों को यह अभीष्ट हो कि वे भारतवर्ष के स्त्री-समाज को अपना कार्य-क्षेत्र बनावे, तो उन्हें अपनी वेश-भूषा आचार-व्यवहार इतना सादा एवं कम-खर्चीला रखना होगा कि जिसमें वे साधारण स्त्री-समाज में सुगमता से प्रवेश पा सकें। देश में इस समय

कोट-हैटधारी 'जेंटिलमैनो' एव शू-पाउडर लिपस्टिक का प्रयोग करने वाली भारतीय 'मैडमो' और साधारण जन-समाज के बीच एक वड़ा सा अन्तर पड गया है। और तो और, शिक्षितो एवं अशिक्षितो के बीच भी खासा अन्तर वढता जाता है—यह स्थिति वाछनीय नही है। जिन्हे सेवा करना है, उन्हे दूध मे शक्कर की तरह जनता में मिल जाना होगा। और हमारे जेन्टिलमैनी और मैडमी लिवास दूध में शक्कर का नही कांजी का काम देंगे। देश में करोडो लोग अन्न और वस्त्र के लिए तडपते हो, ऐसी हालत मे हमारा साहबी ठाठ-बाट गरीवो की आह का उपहासमात्र होगा।

किन्तु यह विषयान्तर हो गया। परदा सुधार का एक अग है इस लिए सुधार की थोड़ी विवेचना कर देनी आवश्यक जान पड़ी। प्रस्तुत विषय तो परदे का है और उसमें भी 'कथनी' (कहने) की अपेक्षा 'करनी' (करने) की अधिक आवश्यकता है। शायद वहुत-से भाई-वहनो की दृष्टि से यह लेख गुजरे, किन्तु वर्तमान दशा में कार्य का भार बहनो की अपेक्षा भाइयो पर अधिक है। यदि परदे की जीवन-सीमा को हम शीघ्र समाप्त न कर सके, तो इसका दोष पुरुषो पर ही अधिक होगा। भारतीय देवियो में चाहे जितने ऐव आ गए हो, वे "मनोनुकूला" तो अव भी हैं।

फाल्गुन १ संवत् १९८४.

: ३ :

बिखरे हुए विचारों की एक भरोटी

"परीक्षा के बाद क्या करूँगा" यह प्रश्न हर एक विद्यार्थी के हृदय में हिलोरें मारता रहता है। जब इस प्रश्न का ठीक उत्तर नही मिलता तब आगे की पढ़ाई शुरू होती है। मैं ऐसे विद्यार्थियो को जानता हूँ जिनको मैट्रिक के बाद धंधा नही मिला तो वे आई० ए० में गये और फिर धंधा नही मिला तो बी० ए० और उत्तरोत्तर एम० ए० तक चले गये। उसके बाद भी धंधे के अभाव मे विदेशों को शिक्षा के लिए ज.ने की सोचते है। शिक्षा का यह पहलू अवश्य ही दिलचस्प और करुणामय है; क्योंकि धंधे का अभाव पढने के लिए बाध्य करे, ऐसी विद्या अमिश्रित शुभकरी नही हो सकती। सेवा के मनसूबे तो कोई ही

बाँधता होगा; क्योंकि प्रथम तो आधुनिक शिक्षा का वातावरण ही सेवा की तरफ नही खीचता और ऊपर से दरिद्रता का बोझ। इसलिए पढनेवाले लड़को के मनसूबे प्रायः आर्थिक क्षेत्र मे ही चक्कर लगाते हैं।

पढनेवालो में धनिको के लड़के तो होते ही कम हैं, बाकी के, गरीबी में पलनेवाले दरिद्र विद्यार्थियो के मनसूबे आर्थिक क्षेत्र तक ही परिमित हो तो इसमे कोई आश्चर्य नही है। अफसोस केवल इसी बात का है कि आज के विद्यार्थियों की मनोवृत्ति भीरु है, तर्कानुगामिनी नही है। पचास वर्ष के पहले के युवको और आज के युवको की मनोवृत्ति मे कितना अन्तर है! पचास या सौ वर्ष पहले मारवाड़ से आने वाले अशिक्षित गँवई जनो ने किस अदम्य उत्साह के साथ कठिनाइयो का मुकाबिला किया, कैसे अपने कारोबार जमाये और कैसे-कैसे कष्ट सहे, इसकी आज के युवक कल्पना भी नही कर सकते। मेरे पितामह बाईस वर्ष की अवस्था में बम्बई में रोजगार करने के लिए घर से चले तो उन्हे पिलानी से इन्दौर तक ऊँट की सवारी करनी पड़ी और इन्दौर स्टेशन पर रेल में सवार हुए। बम्बई पहुँचकर आठ साल तक धैर्य और परिश्रम के साथ उन्होने अपना कारोबार जमाया और बाद में पिलानी लौटे। यह कोई इनेगिने उदाहरण नही है। उस समय के लोगों का यही

हाल था। कम खर्च से रहना, परिश्रम से जीवन बिताना, और लगन की मस्ती—यह पुराना तरीका था। आज के युवकों में वह साहस, वह लगन और कष्ट-सहन करने की वह हिम्मत कहाँ ?

कुछ पढ़नेवाले तो वकालत या डाक्टरी की तरफ़ झुकते हैं, बाकी सौ में निन्यानवे तो नौकरी ढूँढ़ते फिरते हैं। "पढ़े फारसी बेचें तेल, यह देखो कुदरत का खेल।" फारसी पढ़नेवालों की, इस तुकबंदी के साथ उस वक्त के अव्यवसायी नवयुवक दिल्लगी किया करते होंगे। सम्भवतः उस समय के फारसी पढ़नेवाले आज के तेजोहीन शिक्षित युवकों की तरह रहे होंगे; लेकिन उस समय दिल्लगी करने वाले तो मौजूद थे, आज तो वे भी नही हैं। पुरानी और नवीन मनोवृत्ति में कितना अंतर ! जहाँ लगन, साहस और आधुनिक शिक्षा का सम्मिश्रण हुआ है वहाँ आर्थिक क्षेत्र में "हेनरी फोर्ड" और सेवा के क्षेत्र में "गाँधी" तथा "नेहरू" पैदा हुए है। जहाँ इनका सम्मिश्रण नही है वहाँ नौकरी का बाजार गर्म है। इस बेकारी की तह में हमारी राजनैतिक असहायता के अलावा विद्यार्थियों का अज्ञान और आलस्य कही अधिक मात्रा में है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

यह कभी नही भूलना चाहिए कि सारे आर्थिक क्षेत्र

का आधार परस्पर की मेहनत की अदला-बदली है। मेरे पास अन्न है और आपके पास चीनी, मुझे चीनी चाहिए और आपको अन्न। यदि हम पडौसी है तब तो इन चीजो का तबादला स्वय ही कर लेते है और अपनी-अपनी आवश्यकताओ को पूरा कर लेते है; परन्तु यदि अन्न पैदा करनेवाला पजाब में है और चीनी पैदा करने वाला बिहार में, तब इस परस्पर के तबादले की पूर्ति के लिए बिचौला (Middleman), वाहक (लॉरी, रेल तथा बैलगाड़ी), आढतिया और साहूकार की सृष्टि पैदा होती है। इसी तरह सारे कारोबार इस अदला-बदली के सिद्धान्त पर खड़े है। चाहे ये कारोबारी लोग हज्जाम, धोबी, रगरेज, लुहार हो या वाहक, बीमावाला, बनिया और साहूकार हो; "परस्पर भावयतः श्रेयः परमवाप्स्यथ" (एक-दूसरे का पोषण करके तुम परम कल्याण को पाओ)।

आज चाहे सेवा का हिस्सा जमीन मे गड गया है और अमिश्रित स्वार्थ रह गया है, पर कारोबार की असल पैदाइश सेवा-क्षेत्र से ही है। और जैसे सरकार का काम शासन है—चाहे वह सरकार साम्यवादी हो चाहे फासिस्ट—इसी तरह रोजगार धधे की भित्ति भी पारस्परिक मेहनत की अदला-बदली पर है; चाहे वह धर्मभाव से हो चाहे स्वार्थ दृष्टि से। धधे के भीतर में छिपी हुई इस मेहनत की

अदला-बदली के नियम को जब हम नही पहचानते तो अपने आप ही बेरोजगार हो जाते है। जो गरजी दूध का है उसको आप देना चाहते है खाँड, ऐसी स्थिति मे वह खाँड आपके पास ही रहेगी और आप बेरोजगार होजायँगे। जहाँ धोबी की चाह है वहाँ नाई को कौन रखे? और यदि मुझे जरूरत है ग्वाले की या ड्राइवर की या अच्छे रसोइये की तो मैं क्लर्क का क्या करूँ? आज एक हजार जरूरतें इस देश मे मौजूद है, जिन्हे मेहनत द्वारा पूरा किया जा सकता है और फिर भी बेकारी की शिकायत है। देश मे, खाने के लिये अन्न, फल, दूध और पहनने के लिये वस्त्र और रहने के लिये मकान—इन सब ही वस्तुओं की कमी है। दूसरी तरफ यह हाल है कि फुर्सत की कमी नहीं। साधन भी मौजूद है। फिर भी वस्तुये क्यो नही पैदा की जाती? आखिर वस्तुयें साधन और मेहनत का ही तो फल है। साधन+मेहनत=वस्तु। घर का कूड़ा घर के बाहर पड़ा सड़ता है और खेत में खाद की कमी है। हमारे पास फुर्सत है। यदि हम खेत मे खाद डाल दें तो कूड़ा साफ हो जावे और अन्न की पैदावार भी बढ़ जावे। कुछ परिश्रम करने से गाय अधिक दूध दे सकती है और हमारे बच्चो को भोजन भी मिल जाता है। घर का गदा पानी घर में और गली में सड़न और मच्छर पैदा करता

है। इसी जल से हम फल या तरकारी उत्पन्न करके बच्चों को जीवनीय पदार्थ दे सकते हैं। दूसरी तरफ घर को साफ-सुथरा रखकर हम बीमारियो को कम कर सकते हैं। काम दरवाजे पर पड़ा है और फुर्सत भी है, पर फुर्सत को काम में नही लगाते। इस हालत को हम आलस्य और अज्ञान के सिवा किस नाम से पुकारें? यदि पढ़े-लिखे लोग भी आलसी और ज्ञान से कोरे हो, तो विद्या से हम फिर कौन-सी आशा रखें? शहरो मे एक दर्जी सवा रुपया रोज कमा सकता है, बढ़ई की तनख्वाह भी अच्छी है, ड्राइवर की भी तनख्वाह ऊँची है, और जूता बनानेवाला भी बेरोजगार नही है, फिर भी पढ़े-लिखे लोग बीस रुपये माहवार की नौकरी में अपने आपको क्यो बेच देते है? यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि शहर में पच्चीस की भी नौकरी गाँव के दस रुपयों के बराबर है। आखिर आय को रुपयो में न माप कर वस्तुओ मे ही तो मापना चाहिए। क्या पढ़े-लिखे लोग जो शहर में पच्चीस रुपयो की नौकरी खोजते है, गाँवो में पन्द्रह रुपयो का रोजगार भी नही निकाल सकते?

जो लोग गाँवो को छोड़कर शहरों में रोजगार ढूँढते है और शहरो में भी जिस चीज की चाह है उसमें न पड़कर अनचाही चीजो की बिकवाली निकालते है, वे अवश्य

ही आलस्य, अज्ञान और बेकारी की परवरिश करते है। रोजगार मेहनत की अदला-बदली का नाम है और यदि आप अपनी मेहनत को बेचना चाहे, चाहे बनिया बनकर और चाहे धोबी या नाई बनकर, तो आपको देखना होगा कि गरजमन्द किस चीज की गरज रखता है और यदि आपने यह न देखा तो आपने ख्वाहमख्वाह ही पढा है। पढे-लिखे लोगों को चाहिए कि लोगो की आवश्यकताओ का अध्ययन करे और उन्हें पूरा करने मे अपनी मेहनत यानी पूँजी (असल पूँजी मेहनत है) को लगाएँ।

सफल जीवन के लिए सच्चाई की हर समय जरूरत पड़ेगी। "सांच बराबर तप नही" यह कहावत सोलह आना सत्य है। धर्म की दृष्टि से जाने दीजिए, व्यावहारिक दृष्टि से भी सच्चाई से बढ़कर सफल जीवन की और दूसरी चाबी मुझे नजर नही आती। धर्म (Religion) न सही, बतौर नीति (as a policy) भी सच्चाई परमावश्यक गुण है। बेईमानी, जुआ, चोरी इत्यादि भयानक ऐबो से तो दूषित थोड़े ही लोग होते है, पर मानसिक कमजोरी के कारण झूठेपन का दोष कम-बेश तादाद में हममें से बहुतो मे पाया जाता है, जिसका उपयोग हम जीवन के हर क्षेत्र में करके अपने आपका अहित करते है। जहाँ "ना" कहना चाहिए वहाँ "ना" कहने की हिम्मत नही। सिद्धान्त एक मानते है,

पर हमारा आचरण उलटा है। कई लड़के कहते है, "हाँ साहव, हमारा सिद्धान्त तो यह है, पर क्या करे, घरवाले नही करने देते"। मारवाड़ी में एक कहावत है "एक नन्ना सौ दु.ख हरे," अर्थात् एक ना कहने से सौ दु.ख टलते हैं। मैं अनेक विद्यार्थियो के सम्पर्क में आया हूँ और मैंने दुःख के साथ देखा है कि विद्यार्थियो में स्पष्ट व्यवहार की काफी कमी है। यह लड़को का दोष नही है। हमारे घरो के वातावरण ही आज साफ शुद्ध नही हैं, लड़के जो घर में देखते-सुनते है उसीका अनुकरण वाहर किया करते है, पर पढ़े-लिखे लोगो की जिम्मेवारी वडी है, इसलिए उन्हे घर के वातावरण से प्रभावित होने के वजाय इसे सुधारना चाहिए। मेरा अनुभव है कि धर्म और व्यवहार दोनो के लिए सच्चाई से वढ कर कोई अच्छी दवा नही है। सच्चाई से व्यापार में सफलता मिलती है, बुद्धि कुशाग्र होती है, आदमी ठगा जाने से वचता है और सैकड़ो आफतों को विना ही परिश्रम पार कर जाता है।

अनुशासन (Discipline) और दक्षता (Efficiency) का देश में अकाल है, पर यदि विद्यार्थी-लोग भी अनुशासन-हीन (Undisciplined) और दक्षता-रहित (Inefficient) मानवो की एक अव्यवस्थित भीड़ हो जायें तो ईश्वर ही मालिक है। यूरोप में रेलवे-स्टेशनों या

थियेटरों के टिकिटघरो के पास कभी धक्का-मुक्की नही होती। जो पहले आता है वह पहले खड़ा हो जाता है और पीछे आनेवाला पीछे। इस प्रकार कतार लगती जाती है। कभी-कभी तो किसी लोकप्रिय नाटक के अवसर पर तमाशा देखनेवालो की, टिकिटघरो के पास, कतार एक-दो मील लम्बी बन जाती है। क्या मजाल कि कोई भी कतार तोड़ने की हिम्मत करे। लन्दन के फुटपाथो पर रविवार को इतनी भीड़ हो जाती है कि जल्दी चलनेवाले लोग कभी-कभी धक्कम-धक्की हो जाते है। तो ऐसी हालत मे एक-दूसरे को कहता है, "Sorry, it was my fault." दूसरा जवाब देता है,—"Sorry, it was mine." यह कह-कर दोनो मुस्कराते हुए अपनी राह लेते है।

यूरोप मे यात्रा करते हुए एक बार मेरी गाड़ी किसी दूसरी गाडी से टकरा गई। मेरे ड्राइवर ने ब्रेक बाँध कर गाडी खड़ी की। दूसरे ने भी ऐसा ही किया। दोनो नीचे उतरे। चुपचाप। अपनी-अपनी गाडी का प्रत्येक ने निरी-क्षण किया। फिर एक ने दूसरे से पूछा, "Are you insured?" उत्तर मिला "Yes." फिर प्रश्न, "Any damage." उत्तर "No", "Sorry"। यह बात हो चुकी और दोनो अपनें-अपने रास्ते चले गये। न आया क्रोध और न दी एक-दूसरे को गालियाँ। अब जरा अपने देश-

वासियो का भी किस्सा सुनिए ! दो गाड़ियाँ भिड़ते-भिड़ते बाल-बाल बच गई। गाड़ीवानो ने ब्रेक बाँधा और गाड़ियाँ खड़ी की। गाड़ियाँ भिड़ी तो थी ही नही, इसलिए नुकसान का तो सवाल ही क्या था, पर हमारे भारतीय वीर इस प्रकार टलनेवाले थोड़े ही थे। श्रीगणेश हुआ गालियो और अपशब्दो से—"क्या आँखे फूट गई थी," "तेरे बाप ने भी कभी गाड़ी चलाई थी," "मै तो तेरा बाप जन्मा तब से गाड़ी चलाता हूँ," "उल्लू का पट्ठा, एक साल जेल मे कटेगी तब होश आयेगा।" भीड़ जमा हो गई, ट्राफिक रुक गया। पुलिस आई तब दोनो हटे। माघ और कुम्भ के मेलो में तो धक्का-मुक्की की कौन कहे, कई आदमी कुचलकर मर जाते है। छोटे-छोटे मेलो पर भी बिना स्वयंसेवको के हमारा काम नही चल सकता। महात्माजी के चरण छूनेवाले भक्त उनके पैर कुचल देते है। सभाओं में इतना शोर मच जाता है कि कभी-कभी तो गांधीजी को केवल हाथ जोडकर ही सभा समाप्त कर देनी पड़ती है। हम आपस मे बाते करते है तो इतना हल्ला मचाते है, मानो दो फर्लांग की दूरी से बाते करते हो।

खाने का यह हाल है कि कोई समय ही नही। सारा यूरोप और अमेरिका करीब-करीब एक ही समय पर भोजन कर लेता है। आठ साढे आठ बजे सुबह को नाश्ता,

एक-डेढ़ बजे दिन मे लंच और रात को सात-साढ़े सात बजे डिनर। हमारी यह दशा है कि कोई दस बजे सुबह को भोजन करता है तो कोई बारह बजे। यहाँ तक कि कई रईसी ठाठ के बाबू लोग एक बजे तक खाने से निवृत्त नही होते। बिहार में तो असल रईस वह है जो रात को एक बजे खाना समाप्त करे। इस समय की बेपाबन्दी से समय की बर्बादी का तो कुछ ठिकाना ही नही, और भी अनेक प्रकार की असुविधाये उपस्थित हो जाती हैं। मान लीजिए कि आप रात को साढ़े सात बजे खाना खाते है; एक दूसरे सज्जन है जो साढ़े आठ बजे खाना खाते है। वे बिना किसी खबर के साढे सात बजे आपसे मिलने आते हैं। आप खाना खाने बैठ जाते है और खाने के बाद ही यदि आपने किसी अन्य सज्जन को मिलने का वक्त दे रखा है तो वह खाना खा चुकनें के बाद भी आपसे नही मिल सकते। इसलिए उन्हे बिना मिले ही लौटना पडता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि मेहमान को खाने का निमंत्रण तो दिया गया साढ़े सात बजे का और वह पहुँचते हैं साढ़े आठ बजे। तमाम घरवाले घंटे भर तक भूखे बैठे मेहमान साहब की बाट उडीकते है और उनकी सात पुश्त तक को कोसते हैं। यूरोप का यह हाल है कि दस मिनिट तक तो मेहमान की बाट देखी जाती है, बाद में घरवाले खाने को

बैठ जाते है। मेहमान साहब पहुँचते है और लज्जित हो कर माफी माँगते है। अनुशासन के बिना सामाजिक और राजनैतिक किसी भी जीवन में सफलता नही मिल सकती, यह अबाधित सत्य है। पण्डित जवाहरलाल नेहरू इसीलिए आजकल चरित्र और अनुशासन पर खूब जोर लगाते है। जिसमें अनुशासन और सच्चाई है, उसमें दक्षता स्वत ही आ जाती है।

अष्टम एडवर्ड को जिस शान्ति और शान के साथ ब्रिटिश जनता ने गद्दी से उठाया वह इस बात का द्योतक है कि ब्रिटिश जनता में कितना जबर्दस्त आत्म-नियन्त्रण (Self-discipline) है। तमाम राजनैतिक दल बात की बात में एक हो गये। यहाँ की फूट की वहाँ की एकता से तुलना कीजिए! यूरोप के बड़े-बड़े बागो मे छोटी-छोटी टोकरियाँ जगह-जगह लगी रहती है ताकि किसी को रद्दी चीज वा कागज फेंकना हो तो उनमें डाल दिया करे। किसी-किसी जगह तो सडक पर कागज फेंक देनेवाले पर पचास पौड तक जुर्माना कर दिया जाता है। अपने यहाँ कागजो की तो बात ही क्या, अपने घरो का सारा कूड़ा-कर्कट भी हम गली में ही फेंक देते है। इससे हमे और हमारे पड़ोसी दोनो को ही कष्ट होता है।

व्यवस्था (Orderliness) अनुशासन का ही एक अंग

है। लड़कों को वचपन से ही आदत डालनी चाहिए कि वे हर चीज को सुव्यवस्थित रखें। अनुशासन और व्यवस्था से दक्षता आती और बढ़ती है। किसी की दक्षता को परखने के लिए मै आमतौर से यह देखा करता हूँ कि लड़के ने अपने कोट के बटन बन्द किये है या नही; नाखून कटवा कर साफ रखता है या नही; अँगुलियो पर स्याही के दाग तो नही पड़े है। कपड़े मैले है या उजले। इन छोटी-छोटी बातो से मनुष्य की छिपी हुई बड़ी-बड़ी मनोवृत्तियो का पता सहज में ही लग जाता है।

मनुष्य के अत्यन्त साधारण आचरण से ही पता चल जाता है कि उसमे सच्चाई कहाँ तक है। जो छोटी-छोटी बातो में सच्चाई का प्रयोग नही करता; जो अपनी सारी क्रियाओं के सम्बन्ध में अव्यवस्थित है; जिसने न सोने-उठने का नियम बना रखा है और न खाने और व्यायाम का; जो भोजन स्वास्थ्य की दृष्टि से नही करता, केवल स्वाद के निमित्त करता है, ऐसे मनुष्य के जीवन से बड़ी-बड़ी बातो की आशा नही करनी चाहिए। जो लोग अव्यवस्थित है, समय के पाबन्द नही है, उनके नाम को उच्चाकांक्षाओ के वहीखाते में "बट्टे खाते नावें" लिख देना चाहिए। सफलता ऐसे लोगो के लिए पैदा नही हुई जो अव्यस्थित है, असंयमी है, और बिना चरित्रबलवाले

है । आज अंगरेज लोग शासक है और हम गुलाम है, यह घटना सहज और आकस्मिक नही है । उनमें नियंत्रण-बल है, उनमे सुव्यवस्था है, उनमें नियम की पाबन्दी है और उनमें चरित्र-बल है ।

कुछ विद्यार्थियो ने महात्माजी से सन्देश माँगा था, जो उन्होने इस प्रकार भेजा था—"Be truthful, have self-restraint and attain loftiness of character." चाहे हम छोटे हो चाहे बड़े, यदि हम सब इसको अविकल-रूपेण धारण कर ले तो फिर किस बात का डर है । बेकारी से डरना भी फिजूल है ।

१९३७.

: ४ :

हिन्दी-प्रचार कैसे ?[1]

सम्मेलन के प्रतिनिधियो का इस प्रकार स्वागत करने का सौभाग्य मुझे अपने जीवन मे आज दूसरी बार प्राप्त हुआ है। पहला अवसर मुझे कलकत्ते में आज से प्रायः १४ वर्ष पहले मिला था। इन १४ वर्षों में हिन्दी ने कितनी उन्नति की है यह कहना तो कठिन है; किन्तु इतना तो समझ में आ सकता है कि उन्नति यथेष्ट नही हुई। वैसे तो हिन्दी का क्षेत्र बहुत व्यापक है, दक्षिण में कन्या-कुमारी तक और पूर्व में आसाम तक भी लोग हिन्दी में

१. तेईसवें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, दिल्ली के स्वागता-ध्यक्ष की हैसियत से दिया गया भाषण।

बोलचाल कर सकते हैं, किन्तु क्षेत्र की व्यापकता को देखते तो यह कहना होगा कि काम शिथिलता से हुआ है। धन का अभाव है या कार्यकर्त्ताओ का—यह विवादग्रस्त विषय हो सकता है, किन्तु एक बात स्पष्ट है और वह यह कि हिन्दी को सुगम बनाने के लिए अबतक कोई सतोषजनक प्रयत्न नही हुआ।

प० जवाहरलालजी का यह कहना उपयुक्त-सा है कि हिन्दी एक दरबारे-खास की चीज बनती जा रही है। जो चीज दरबारे-खास की होगी, उसपर दरबारे-आम वालो को दखल पाना मुश्किल होगा। मै तो समझता हूँ कि हिन्दी को व्यापक बनाने के लिए हमें भाषा को इतना सरल बनाना होगा कि हर हिन्दुस्तानी उसे अपनी मातृभाषा अर्थात् सचमुच अपनी माँ की भाषा समझ सके। क्या यह बात सही नही है कि जिसको आज हम हिन्दी कहते है वह अधिकतर अखबारो, पोथियों और पढ़े-लिखे आदमियो तक ही परिमित है ? मैंने तो यह भी देखा है कि हिन्दी के बडे-बड़े विद्वान् भी अपने घरो में अपनी प्रान्तीय भाषा में ही बात-चीत करते है। महामना पूज्य पडित मालवीयजी भी अपने घर में अपनी घराऊ बोली ही बोलते है। एक बात तो साफ है कि एक ही घर में दो जबानें नही चल सकती। यदि यह सम्भव नही कि घराऊ बोली मर जाय तो यह

क्यों न किया जाय कि हिन्दी भाषा को ही वह रूप दे दिया जाय। और यह तो तभी हो सकता है, जब कि आज की हिन्दी में हम प्रान्तीय शब्दों को मिलाकर उसे एक हृष्ट-पुष्ट और जानी-पहचानी भाषा बना लें। आप लोगों को पता होगा कि गाधीजी ने गुजराती में 'गँवई' शब्दों को मिलाकर गुजराती साहित्य की काफी सेवा की है। ठीक उसके विपरीत जान पडता है कि हिन्दी में गँवई या प्रान्तीय शब्दो का प्रयोग करना दोष समझा जाता है। मेरी समझ में यदि हम इस दोष को गुण समझ ले तो हिन्दी का विशेष लाभ हो सकता है।

इस समय हिन्दी को ऐसा रूप देने की आवश्यकता है जिससे वह 'हिन्दुस्तानी'—अर्थात् देशमात्र के लोगो की भाषा—बन सके और विभिन्न प्रान्तो के हिन्दू और मुसलमान उसे बोल-चाल या लिखने-पढने के काम में ला सके। हर प्रकार की कृत्रिमता से हमे अपनी भाषा को बचाना चाहिए—चाहे उस कृत्रिमता का आधार पडितो की संस्कृति हो चाहे मौलवियों की अरबी या फारसी। भाषा आखिर एक साधन है जिसका उपयोग कर हम किसी कार्य्य-विशेष की सिद्धि करना चाहते है। ऐसी अवस्था में हमें बराबर यह देखते रहना चाहिए कि हमारा साधन या औज़ार कहाँ तक हमारे काम के लायक है

और अगर हमारी जरूरत बदल गई है तो हमे उसमें कौन-सा हेर-फेर करना चाहिए। हिन्दी ही राष्ट्र-भाषा का काम दे सकती है इसमें सन्देह नही, पर इसका यह अर्थ नही कि उसका रूप आगे के लिए भी वही बना रहे जो आज से सौ वर्ष पहले था या जिस रूप में उसने दिल्ली या आगरे के पास उससे भी बहुत पहले जन्म लिया था। अगर हमे हिन्दी का भडार भरना है और इस प्रकार इसे सब भाषाओ की चोटी पर पहुँचाना है तो हमे प्रान्तीय भाषाओ से बहुत-कुछ लेना होगा। राष्ट्र-भाषा बननेवाली चीज राष्ट्र-मात्र की सम्पत्ति होगी और उसकी परिपुष्टि के लिए यह आवश्यक होगा कि वह राष्ट्र के प्रत्येक अग से कुछ ग्रहण करने को तैयार रहे। हिन्दी का हित इसीमें है कि उसे इस बात की स्वतन्त्रता दे दी जाय कि वह अपने व्यक्तित्व की रक्षा करती हुई गुजराती, मराठी, मारवाड़ी, बंगला, तामिल, तेलुगू आदि सबसे व्यावहारिक और उपयुक्त शब्दो का आदान-प्रदान कर सकें। अर्थात् एक तो यह आवश्यक है कि हिन्दी को कृत्रिमता अर्थात् जटिलता की बेडी से मुक्त कर देशमात्र की जनता के व्यवहार की भाषा बना दी जाय; दूसरे यह कि विभिन्न प्रान्तो से यह न कहा जाय कि 'यह हमारी हिन्दी है। तुम इसे इसी रूप में ग्रहण कर सकते हो';

बल्कि यह कि 'हिन्दी तुम्हारे लिए भी बडे काम की चीज होगी। इसे लो और इसमें कुछ अपनी ओर से मिला कर अपना काम निकालो'। ऐसी रीति-नीति से ही हम इस देश में हिन्दी का अधिक-से-अधिक प्रचार कर सकेंगे।

इस सिलसिले मे मै दक्षिण भारत में होनेवाले हिन्दी-प्रचार-कार्य के सम्बन्ध में दो शब्द कहना आवश्यक समझता हूँ। राष्ट्रीय हित की दृष्टि से यह कार्य्य अपना खास महत्त्व रखता है। आज से १५-१६ वर्ष पहले पू० महात्मा गाधी के हाथो इसका श्रीगणेश हुआ था और उनके आशीर्वाद से इस क्षेत्र के कार्य्यकर्ताओं को—जिन में श्री हरिहर शर्मा और एम० सत्यनारायणजी के नाम विशेष उल्लेखनीय है—वहाँ आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। इसीके फलस्वरूप हम आज इस अधिवेशन मे, उस प्रान्त के प्रतिनिधियो को भी समुपस्थित पाते है। पर दक्षिण भारत में जो कार्य्य हुआ है उसका महत्त्व कुछ-कुछ उन आँकड़ो से जाना जा सकता है जो हमें वहाँ की प्रचार-सभा द्वारा प्राप्त हुए है। अभी तक प्रायः ६,००,००० लोग हिन्दी से परिचित हो चुके है। इस समय भी वहाँ ४०००० विद्यार्थी हिन्दी का अध्ययन कर रहे है। करीब ६०० प्रचारको द्वारा १२०० केन्द्रो में प्रचार का काम कराया गया है। सभा ने ६५ विभिन्न

पुस्तको की ७,००,००० प्रतियाँ अपने प्रेस मे छपाई हैं और वह 'हिन्दी-प्रचारक' नामक एक मासिक पत्र भी चलाती है। महात्माजी को पिछली बार दक्षिण भारत मे जो मान-पत्र दिये गये उनमें लगभग ९० फी सदी हिन्दी में थे। हिन्दी के प्रति उस प्रान्त की देवियो का उत्साह विशेष प्रशसनीय बताया जाता है और उन्हे आज अपने बीच उपस्थित देखकर हम भी समझ सकते है कि उनके उत्साह की जो प्रशसा सुनने में आई है उसमें तनिक भी अत्युक्ति नही है। दक्षिण भारत से आनेवाले इस हिन्दी-प्रेमी दल का हम लोग हार्दिक अभिनन्दन करते है और उन्हे विश्वास दिलाते है कि उन्होने उत्तर भारत की भाषा पर ही नही, उसके हृदय पर भी अधिकार जमा लिया है। ईश्वर करे, महात्माजी का रोपा हुआ यह वृक्ष सदा हरा-भरा रहे और उत्तर तथा दक्षिण के सम्मेलन में अधिकाधिक सहायक हो।

यह सौभाग्य की बात है कि इस साल हमें सभापति के पद के लिए श्रीमान् बड़ोदा-नरेश मिल गये है। बडोदा-नरेश की सेवाओं को कौन नही जानता। प्राय सभी क्षेत्रो में देश को आपकी सेवाओ का सौभाग्य मिला है। आपके मनसूवे कितने ऊँचे है, लगन कैसी दृढ है, परिश्रम करने की शक्ति कितनी प्रबल है, अपने राज्य में कितने सामा-

जिक और राजनैतिक सुधार किये हैं—यह उनसे परिचय रखनेवाले सभी व्यक्ति जानते हैं। उनका हिन्दी का प्रेम तो बहुत पुराना है। अभी हाल में आपने अपनी कचहरियों में नागरी लिपि प्रचलित करने की आज्ञा जारी की है। राज्य के हर अफसर के लिए हिन्दी सीखना अनिवार्य है। ऐसे हिन्दी-हितैषी की हमें संरक्षता मिली यह कम सौभाग्य की बात नहीं है। ईश्वर करे अन्य राजा-महाराजा भी ऐसे ही उन्नत विचारवाले हों।

: ५ :

जात-पाँत तथा अस्पृश्यता

(राजस्थानियों के नाम एक सन्देश)

जात-पाँत और अस्पृश्यता इन दोनो को राजस्थानियो ने काफी शरण दी है। एक तरह से ये दोनो मुद्दे आपस में ओत-प्रोत हैं। एक का नाश होने पर दूसरे का सहज ही नाश हो जाता है। और यदि ये दो बुराइयाँ हिन्दू-समाज में जीवित रही, तो समझ लेना चाहिए कि हिन्दू-समाज का नाश अवश्यम्भावी है। हिन्दू-समाज में से जो हजारो आदमी हर रोज बाहर निकलते जा रहे हैं यदि उनको एक ही दरवाजे से कतार बाँधकर बाहर निकाला जाय, तो इस दृश्य को देखनें मात्र से ही कट्टर सनातनी की भी छाती दहल जाय। किन्तु चूँकि यह दृश्य आँखो से नही, बुद्धि से

ही देखा जा सकता है, इसलिए सब निश्शंक हुए बैठे हैं। जात-पांत और अस्पृश्यता बुद्धि के आधार पर नहीं, अज्ञान की भित्ति पर है, इसमें कोई सन्देह नहीं रह गया है। हिन्दू धर्म जहाँ एक निर्मल गंगा की धारा है, वहाँ अस्पृश्यता और जात-पांत, ये दो गन्दे नाले हैं, जो इस पवित्र धारा को दूषित और दुर्गन्धमय बना रहे हैं। गन्दे जल को कौन रोके और शुद्ध करे ? परिणामस्वरूप हिन्दू धर्म खतरे में है। जो इस धर्म की रक्षा करना चाहते हैं उन्हें इन दोनो बुराइयों से लड़ना चाहिए। राजस्थानियों में जात-पांत तो है पर अस्पृश्यता इतनी नहीं है, तो भी राजस्थानियो ने इन दोनो रूढियों को आर्थिक और नैतिक पोषण दिया है। यदि हिन्दू धर्म की रक्षा करना है तो राजस्थानियो को चाहिए कि इन रोगो का नाश करें।

: ६ :

सट्टा, फाटका या फ्यूचर मार्केट

आमतौर पर लोगो से पूछा जाने पर कि फाटके के बारे में आपकी क्या राय है, प्राय. यही जवाब मिलेगा कि सट्टा, फाटका एक तरह की बुराई है, जिससे हर एक मनुष्य को बचना चाहिए। फिर भी यह कम लोग जानते है कि सट्टा या फाटका बुरा क्यो है, कौन से कारबार को सट्टा या फाटके के नाम से पुकारना चाहिए, और उसकी उपयोगितायें या बुराइयाँ कौन-कौन-सी है। मै नही कह सकता कि फाटका शब्द कैसे प्रचलित हुआ; किन्तु सम्भवत सट्टा शब्द गुजराती और मारवाड़ी 'साटे' शब्द से बना है, जो शायद हेज (Hedge) का अनुवाद है। मारवाडी और गुजराती में 'साटा' शब्द बदले को

कहते हैं। गुजराती मे 'साटू' कहते है और मारवाड़ी में 'रोटी साटे रोटी, कै पतली कै मोटी' में 'साटा' शब्द बदले के अर्थ में व्यवहार किया गया है। चूँकि हेज या फ्यूचर मार्केट खास करके एक वस्तु के बदले में उसीसे सम्बन्ध रखनेवाली दूसरी वस्तु या एक वायदे की वस्तु के बदले में दूसरे वायदे की वस्तु को लेने बेचने ही के लिए स्थापित किया गया था, और चूँकि पहले-पहल इस मार्केट का विकास बम्बई में हुआ मालूम होता है, गुजराती-मारवाड़ियों ने हेज (Hedge) के अनुवाद-स्वरूप 'साटा' शब्द का व्यवहार किया, जिससे सम्भवतः फिर सट्टा बन गया। किन्तु यह मेरी अपनी कल्पना है। जो हो, सट्टा-फाटका किसे कहना चाहिए और इससे क्या बुराइयाँ है, यह तो बहुत ही कम लोगों ने सोचा है।

पहले-पहल इसी पर विचार करे कि सट्टा किसे कहना चाहिए। कितने लोग समझते है कि जिस वायदे के सौदे में माल की डिलेवरी नही होती, केवल रुपयो ही का भुगतान होता है, उसे सट्टा कहना चाहिए। किन्तु कलकत्ता और बम्बई में ऐसे बाजार जिनमे माल का भुगतान नही होता बहुत कम है। जो थोड़े से है उनमें सब लोग काम भी नही करते; क्योकि पुलिस की उनपर निगाह रहती है और इसलिए ऐसे बाजार कानून के खिलाफ हैं।

ऐसे बाजारो को जुवाडखानो की श्रेणी मे ही रखा जा सकता है, इसलिए ऐसे बाजारो के महत्व को बढ़ा देना अतिशयोक्ति होगी। आमतौर से जिन बाजारों को लोग सट्टा-फाटका कहते है, उनमे से अधिक ऐसे ही बाजार हैं, जहाँ वायदे का सौदा होता है और जहाँ माल का लेन-देन बराबर होता है। तो फिर किसी ऐसे बाजार को, जिसमे माल का लेन-देन होता हो, उसे फाटका या सट्टा क्यो कहना चाहिए? शायद कोई यह भी कहे कि जिस वस्तु का वायदे का सौदा होता हो, उसे ही फाटके की श्रेणी मे रख देना चाहिए; किन्तु यह ठीक नही। हमें रोज दूधवाला बधी से दूध देता है, वायदे पर माल भुगताता है, पर कोई उस दूध बेचनेवाले ग्वाले को फाटकिया कहकर नही पुकारता। किसान अपने खेत की फसल महाजन को खेत पकने के पहले भी बेच देता है और वायदे पर माल भुगत जाता है; पर न कोई किसान को न महाजन को सटोरिया कहकर पुकारता है। किसान और ग्वाले का उदाहरण तो अधिक समझ में आ सकता है, इसीलिए सामने रख दिया गया, वर्ना जो बात किसान और ग्वाला नित्य करता है, वही हर माल के पैदा करनेवाले, चालान करनेवाले, आयात-निर्यात करनेवाले व्यापारी रोजमर्रा करते है, किन्तु क्या उन्हें फाटकिया कह सकते

है ? मै यदि १००० गाँठ वायदे की रुई अपनी मिल के लिए खरीदूँ और बदले मे १००० गाँठ कपड़े की वायदे की बेच दूँ, तो क्या उसे फाटका कहेंगे ? इसी तरह यदि मैं विदेश को पाट की रफतनी करता हूँ और १००० गाँठे विलायत मे वायदे की बेचकर यहाँ १००० गाँठ वायदे की बदले में ले लेता हूँ, तो क्या उसे फाटका कहेंगे ? शायद कोई उत्तर दे कि जहाँ १००० गाँठे ली और बदले में उतनी न बेचकर यदि कम या ज्यादा बेची, और इस तरह से माथे या पोते की जो जोखिम ली, उसे फाटका समझ लेना चाहिए। किन्तु इस बुनियाद पर चलने से जो ग्वाला अपनी गाय के १० सेर रोजाना दूध मे से ८ सेर की बंधी बाँध देता है और २ सेर दूध गाय को दुहने के बाद बेचता है, उसे फाटकिया कहना होगा; पर उस ग्वाले को फाटकिया कहना नितान्त हास्यास्पद होगा। चाहे जितने उदाहरण ले लीजिए, किसी भी लेने या बेचने की क्रिया-मात्र को, चाहे वह तैयार माल की हो, चाहे वायदे की, हम फाटका या सट्टा नही कह सकते। जिस तरह देश, काल, पात्र भेद से समान कर्म भी कभी अधर्म और कभी धर्म हो सकते है, उसी तरह से लेने और बेचने की क्रिया भी देश, काल, पात्र भेद से 'व्यापार' या फाटके के नाम से सम्बोधित की जा सकती है।

यदि एक मिलवाला या माल का आयात-निर्यात करनेवाला माल लेता है या बेचता है तो उसे हम व्यापार ही कह सकते हैं, फाटका नही। किन्तु वही क्रिया यदि किसी वकील, डाक्टर, सम्पादक या ऐसे किसी आदमी के द्वारा की जाती है, जिसका उस व्यापार से कोई सम्बन्ध नही, तो अवश्य ही वह आपत्तिजनक क्रिया होगी। क्योंकि इससे देश की उत्पादन-शक्ति की तनिक भी वृद्धि नही होती, और यह सारी मेहनत—माथापच्ची—बेकार जाती है। ऐसे कार्य को वास्तव में फाटका ही कहना होगा। व्यापार की भलाई एव स्वय उस फाटकिये की भलाई के लिए यह भी आवश्यक होगा कि उस नये रंगरूट को, जिसका व्यापार से कोई सम्बन्ध नही, हम फाटका करने से रोकें। तात्पर्य यह हुआ कि जो क्रिया व्यापारी के लिए हितकर है एव फाटका नही है, वही पात्र-भेद से अ-व्यापारी के लिए अहितकर या फाटका है। जिस तरह शिक्षा-प्राप्त डाक्टर या वैद्य को चिकित्सा करने का अधिकार है, उसके लिए और उसके रोगियों के लिए चिकित्सा वांछनीय है, उसी तरह व्यापारियो के लिए वायदे का लेना-बेचना आवश्यक, वाछनीय, हितकर और देश की समृद्धि का साधक एवं नवसिखुओ के लिए ठीक इससे उल्टा है। साराश यह कि दोष क्रिया का नही, किन्तु

पात्र-संसर्ग से है और इसलिए जिसे हम फाटका कहते है, वह व्यापारियो के लिए व्यापार और फाटकियो के लिए फाटका है। व्यापार की भलाई के लिए सारे संसार में वायदे की लेवा-वेची का आयोजन है। उसकी उपयोगिता बड़ी भारी है। व्यापार-क्षेत्र में से वायदे के बाजारों को उठा देने से व्यापार की हानि है, इसलिए ऐसे बाजार रहे है और रहेगे। अ-व्यापारियो की लेवा-वेची से देश की और स्वयं-उनकी भी हानि होती है; किन्तु यह स्वीकार कर लेने के बाद भी ऐसा कोई राजमार्ग नही मालूम होता, जिससे अ-व्यापारियो को फाटके में कूद पड़ने से बचाया जा सके। अधिक-से-अधिक उनकी रक्षा के लिए यही हो सकता है कि वायदे के सौदे (१) बड़ी मिकदार मे न हों, (२) माल की डिलेवरी के लिए लेवाल-वेचवाल दोनों बाध्य हों, (३) सौदे का लिखित कण्ट्राक्ट हो, (४) सौदे का समय निर्धारित हो और (५) सौदे की व्यवस्था अर्थात् सारा कार्य कानूनी ढंग से होता हो, इसकी व्यवस्था के लिए एक व्यवस्थापक-मण्डल हो।

हम यह भी विचार करें कि वायदे के सौदे से वस्तुओ के भावो पर और देश की समृद्धि पर क्या असर होता है ?

यह तो जानी हुई बात है कि वस्तुओं का दाम

उनकी माँग और पैदाइश पर निर्भर करता है। यदि माँग कम हुई और पैदाइश ज्यादा हुई,तो अवश्य ही दाम नीचा रहेगा, किन्तु इसके अतिरिक्त माल बेचनेवाले और खरीदनेवाले की गरज और शक्ति का भी दामो पर बहुत असर होता है। मान लीजिए, मेरे पास एक गाय है और पड़ोसी उसे खरीदना चाहता है। अब चीज की माँग और पैदाइश तो दोनो बराबर है, किन्तु मुझे रुपये की आवश्यकता है, और इसलिए किसी भी तरह अपनी गाय को बेचकर नकद दाम करना है। पड़ोसी को मेरी गरज का पता लग गया। इसलिए वह गाय खरीदने में टालमटोल करने लग जाता है, तो मुझे बाध्य होकर उस गाय को सस्ते दाम पर बेचना पड़ता है। इसी तरह यदि मुझे पता लग जाय कि पडोसी के घर मे दूध की शीघ्र आवश्यकता है और उसे जितना जल्दी हो सके गाय खरीदना है, तो मैं एक हद्द तक मुहँमाँगा दाम अपनी गाय के लिए ऐंठ सकता हूँ। तात्पर्य यह कि वस्तु का मूल्य पैदाइश, माँग, गरज और वस्तु को रोक रखने की शक्ति पर निर्भर है। इसी तरह यदि पाट की पैदाइश १ करोड गाँठो की है और खपत इससे भी अधिक अर्थात् १ करोड़ ५ लाख की है, तो भी यदि माल खानेवाले लोगों को—मिलवालो को, विदेशी

रफ्तनी करनेवालो को—यह पता है कि किसानों के पास माल रोकने की गुंजायश नहीं है और दूसरा कोई प्रतिद्वन्द्वी बाजार में नहीं है, तो स्वभावत. माल खरीदनेवाले लेने में जल्दी न करके किसानों से पाट नीची दर में ऐंठ सकेंगे। अमेरिका प्रभृति देशो में किसान बैंकों से रुपया उधार लेकर माल रोक सकते हैं; किन्तु यहाँ तो किसानों की कौन कहे, व्यापारियों को भी रुपये की कमी है। ऐसी हालत में किसान हर समय विदेशी रफ्तनी करनेवाले या अन्य माल की खपत करनेवाले साहूकारों की दया पर ही जीता है। उपरोक्त उदाहरण से यह स्पष्ट समझ में आ जायगा कि जहाँ केवल पैदाइश करनेवाले और केवल खपत करनेवाले ही आपस में लेवा-बेची करते हैं, वहाँ कमजोर की हार और ताक़तवर की जीत होती है। मौजूदा हालत में माल की पैदाइश करनेवाले कमजोर हैं, खपत करनेवाले ताकतवर एवं संगठित है, केवल तैयारी के बाजार में जीत खपत करनेवाले की ही होती है। किन्तु जहाँ किसी चीज का वायदे का सौदा शुरू होता है, बाजार में लेने और बेचनेवाले कुछ नये-नये व्यक्ति और आ कूदते है और इसलिए जिस वस्तु का वायदे का सौदा होता है, उसके दाम की घटा-बढ़ी के कारणों में प्रथम कहे गये कारणों के अलावा फाटकियों

की मनोवृत्ति भी एक नया कारण बन जाती है। किन्तु इसमे भी एक सीमा होती है। कोई फाटकिया अपनी शक्ति के कारण बाज़ार को हद से ज्यादा नहीं घटा सकता, किन्तु प्रचुर धन पास में हो, तो हरएक फाटकिया किसी भी चीज का दाम बेहद ऊँचा कर सकता है। फाटकिये मे असल मे माल को रोकने की शक्ति तो होती है, किन्तु माल की पैदाइश फाटकिये की शक्ति के बाहर है। इसके अतिरिक्त वायदे के सौदे में रुपया उधार देनेवाले साहूकार भी पहुँच जाते हैं। जो साहूकार किसान को रुपया देने में नहीं हिचकता है, वही किसी एक प्रतिष्ठित व्यापारी को रुपया देने में नही हिचकता। इसका फल यह भी होता है कि लोग तैयार माल खरीदकर वायदा बाज़ार में ऊँचे में बेचकर (hedge) कर लेते हैं और इस प्रकार रुपये का सूद उपजा लेते हैं। उपरोक्त हेतुओ के कारण माल रोक रखने की शक्ति का तैयारी बाज़ार में जो अभाव रहता है, वह वायदा बाज़ार में मिट जाता है। प्रत्यक्ष में देखने से भी यह पता लगता है कि जहाँ केवल तैयारी का काम होता है, वहाँ वस्तुओं की दर शक्तिमान खरीददार की मर्जी पर रहती है। वायदे के बाज़ार में केवल खरीद-दारों को ही यह सुभीता नही रहता; किन्तु कभी-कभी तो चीजों के दाम में अनाप-शनाप तेजी भी हो जाती है।

मैं समझता हूँ कि अब पाठकों की समझ मे भली-भाँति आ जायेगा कि किस वस्तु का वायदे का बाजार वाछनीय और लाभ-प्रद है और किसका हानिप्रद। जिस माल की हम पैदाइश करते है, उसका यदि वायदे का बाजार न हो, तो नतीजा यही होगा कि भिड़त केवल पैदाइश करनेवाले और माल खानेवालों के बीच में रहेगी और माल के खानेवाले जोरावर और पैदाइश करने वाले कमजोर है, यह बताने की आवश्यकता नही। ऐसी हालत मे जिस चीज की हम पैदाइश करते है, उसका वायदे का बाजार होना अति आवश्यक है। मै ऊपर बता चुका हूँ कि वायदे के बाजार में किस तरह 'हेज' करनेवाले पहुँच जाते है और किस तरह माल खपत करनेवाले की, कम दाम मे वस्तु ऐठने की नीति को विफल कर देते है। किन्तु उदाहरण देने से बात ज्यादा सुगमता से समझ में आयेगी। मान लीजिए, मिलवालों को पाट या रुई लेनी है। किन्तु किसानों की कमजोरी का लाभ उठाने की नीयत से वे माल की खरीदी बंद कर देते है। दाम गिरना चाहता है। जहाँ वायदे का बाजार न हो, किसान और मिल-वालों के बीच का व्यापारी जबतक मिलवाला खरीदी शुरू नही करता, किसान से माल नही खरीदेगा। किन्तु जहाँ वायदे का बाजार हो वहाँ 'बीच' का व्यापारी मिल-

वाला लेवाल न भी हो तो, किसान से खरीदकर वायदे में बेचकर 'हेज' कर लेता है और इस तरह बाजार को गिरने से रोक देता है। जब मिलवाला लेवाल हो, तब वह खरीदे हुए माल को बेचकर वायदे मे वापिस लेकर अपना 'हेज' सुलझा लेता है। वायदे का बाजार पैदाइश करनेवाले का किस तरह हित करता है, यह उपरोक्त उदाहरण से भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जिस तरह जिस माल की हम पैदाइश करते है, उसका वायदे का बाजार होना इस देश के लिए लाभप्रद है, उसी तरह जिस चीज की हम खपत करते है, उसके वायदे का बाजार हमारे हित के विरुद्ध मे है। इस सिद्धात से पाट और हेसियन का बाजार निर्विवाद हमारे हित मे है। रुई हम आधी खाते है और आधी रफ्तनी करते है, इसलिए आशिक हित और आशिक अहित है। गल्ला भी रुई की श्रेणी में आता है। कपड़ा और चीनी हम बाहर से मँगाते है, इसलिए उनका वायदे का सौदा किसी भी हालत में हमारे लिए लाभप्रद नही है।

सारे लेख का निचोड यह निकाला कि---

(१) फाटका किसी भी क्रिया-विशेष का नाम नही है, किन्तु क्रिया और क्रिया करनेवाले की परिस्थिति, दोनो के विचार से यह निर्णय होता है कि फाटका

किसे कहना चाहिए।

(२) कोरा फाटका इसलिए बुरा है कि फाटकिया देश की उत्पादक शक्ति को सीधा प्रोत्साहन नही देता।

(३) किन्तु कोई ऐसा राजमार्ग नही, जो वायदे के बाजारों को कायम रखते हुए उनमें से फाटकियों को बिलकुल निकाल दे।

(४) वायदे के बाजार चीजों का दाम ऊँचा करते हैं।

(५) इसलिए जिन वस्तुओ की हम पैदाइश करते है, उनका वायदे का बाजार हमारे लिए हितकर और जिनकी हम खपत करते है उनके वायदे के बाजार हमारे लिए अहितकर हैं।

नवम्बर १९२८.

: ७ :

"पानी में भी मीन पियासी"

जैसा कि इस लेख के नाम से विदित है, वर्तमान आर्थिक संकट अनजान लोगों के लिए एक अजीब पहेली है। इसके पहले भी आर्थिक संकट आते थे, किन्तु उनका जन्म किसी प्रकार के दैवी या मानुषी प्रकोप, महामारी, अग्निप्रलय, जलप्रलय, अनावृष्टि, भूकम्प, राज-विप्लव ऐसे-ऐसे कारणों से होता था। कारण मिट जाने पर स्थिति सुधर जाती थी। उस समय रेल, तार न होने के कारण दुनिया आज की तरह छोटी न थी; स्थानीय कष्ट अपनी सीमा के भीतर ही कष्ट-प्रद होते थे। किन्तु आज के आर्थिक संकट का ढंग कुछ अनोखा है। न महामारी है, न प्लेग है, न राजविप्लव है, न अनावृष्टि या

अतिवृष्टि है, न अग्निप्रलय है, भूकम्प तो अभी हाल में ही हुआ है, फिर भी चारों ओर से तबाही की आवाज आती है। खेत धान्य से भरे हुए है, किन्तु पेट खाली है। माल बेचने वाले लालायित है, गोदाम ठसाठस भरे हुए है, उधर लेनेवाले चीजों के लिए तरस रहे है। चीजे सस्ती है, किन्तु गाँठ मे दाम नही। सामने हलवे से भरी थाली रखी है और पेट में भूख है; परन्तु हाथ बँधे है और होठ सी दिये गये है। ऐसी ही आज की हालत है। पुराने जमाने मे जब फसल की बहुतायत होती थी और दाम मन्दे होते थे तब उसे लोग सुकाल कहते थे। आज भी चीजों की बहुतायत है, दाम भी मन्दे है, तो भी सुकाल नही, दुकाल है। अमेरिका में "चीजें कम पैदा करो" इसकी धूम है। यहाँ भी "पाट कम बोओ" "गेहूँ कम बोओ" ऐसी सलाह देनेवालों की कमी नही। जहाँ सुभिक्ष की चाह थी, वहाँ दुर्भिक्ष में मुक्ति सूझती है। कल-कारखानेवालो ने तो पैदाइश कम करके अपनी स्थिति सुधार ली है। उदाहरणार्थ, चाय और चटकलवालो ने ऐसा किया है और कोयलेवाले करने की तैयारी में है। किसानों में इतना एका नही कि इस तरह बन्धेज के साथ पैदाइश घटा लें, तो भी वे कुछ इसी तरह की फिक्र में है। क्या अजब जमाना है! जहाँ बहुतायत के लिए लोग

तड़पते थे, वहाँ बहुतायत के मारे लोग परेशान है।

यह क्यो ? इसी का यहाँ विवेचन करना है।

आगे बढने से पहले हम सिक्के की करामात को कुछ समझ लें। जब हम कहते है कि वस्तुओ के दाम गिर गये या चढ गये है तब हमारा मतलब यह होता है कि वस्तुओ को अमुक माप या तोल के लिए हमको कम या अधिक परिमाण मे सिक्के देने पडते है। मतलब यह है कि चीजो के दाम की माप का एक-मात्र साधन इस समय सिक्का है। इसलिए यदि सिक्के के रहस्य को न समझा तो तेजी-मन्दी का खेल समझना आसान नही। और यह कोई जटिल प्रश्न भी नही है। झूठ-मूठ लोगो ने इसे जटिल विषय मान लिया है। अच्छा, सिक्के के बारे में एक भ्रात धारणा तो यह है कि सिक्के के दाम स्थिर है। उदाहरण के लिए लोग समझते है कि एक रुपये के १६ आने और ६४ पैसे बँधे है, इसलिए इसके दाम स्थिर है। किन्तु यह एक बड़ी भारी ग़लत-फहमी है। यदि हम यह कहे कि आध सेर पानी की कीमत आध सेर जल है तो इससे यह साबित नही होता कि पानी की कीमत स्थिर है। पानी की कीमत मापने में आप पानी को ही मापदड नही बना सकते। तो फिर सिक्के की कीमत मापने में उसी के अग १६ आने या चौसठ पैसे को क्यो मापदंड

माना जाय ? जैसे हम चीजो की कीमत की माप सिक्के से करते है, वैसे ही सिक्के की कीमत की माप वस्तुओं से ही हो सकती है। और जब हम सिक्के को वस्तुओं से मापेंगे तब पता चलेगा कि सिक्के की दर वस्तुओ से कही अधिक अस्थिर है। मान लीजिए कि हम एक ऐसे मुल्क मे पहुँच गये है जहाँ सोना चारो तरफ मिट्टी की तरह पडा हो और अन्न की काफी तगी हो तो यह कहा जायगा कि वहाँ अन्न खूब महँगा है। दूसरे शब्दो मे यह भी कहा जा सकता है कि सोना वहाँ काफी सस्ता है। अलास्का वगैरह मे जब नई-नई सोने की खान निकली थी, यही हाल था। मिट्टी में मिला हुआ सोना तो चारो तरफ नजर आता था पर खाने-पीने की चीजो की इतनी तगी थी कि एक पैसे की चीज एक रुपया तक बिकती थी। सिक्के की भी वहाँ कमी थी, अक्सर लोग दाम चुकाने में सोने की मिट्टी का प्रयोग किया करते थे। वहाँ यह कहा जा सकता था कि चीजें बहुत महँगी थी। यह भी कहा जा सकता था कि सोना बहुत सस्ता था। दोनो के माने एक ही हुए। इसी तरह आज की मंदी के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि चीजें बहुत सस्ती है। और दूसरे शब्दो मे इसी बात को यों भी कह सकते है कि सिक्का बहुत महँगा है। सिक्का इस समय सोने का प्रतिनिधि

है, इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि सोना बहुत महँगा है। राम कहो या रहीम कहो, जैसे ये दोनो शब्द एक ही करतार के द्योतक है, इसी तरह चीजो का दाम मन्दा है यह कहो चाहे सिक्का महँगा है यह कहो, दोनो वाक्य एक ही स्थिति के द्योतक है। इतना कहने पर यह समझ मे आ जायगा कि सिक्के की महँगी के कारण यह मन्दी है और सिक्का सस्ता होने से चीजो के दाम बढेगे।

चीजो की पैदाइश कम करने से भी महँगी आती है। पैदाइश कम करने से जैसे "न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी", वैसे न रहेगी चीजे, न होगी सिक्के की माँग। इस हिसाब से सिक्के की कमी होते हुए भी अपेक्षाकृत बहुतायत हो जाती है और चीजो की महँगी आ जाती है, किन्तु जो महँगी कम पैदाइश से होती है वह आमवात रोग का मोटापन है और जो महँगापन उपज की वृद्धि के साथ-साथ सिक्को की बहुतायत से होता है वह स्वास्थ्यकर वृद्धि है। १९०० से १९२० तक चीजों की उपज बढ़ी, दाम भी बढ़े, क्योकि सिक्को की तगी न थी। उन वर्षों में नई-नई सोने की खाने खोज निकाली गई और इसलिए सोने या उसके प्रतिनिधि सिक्को की कमी न होने पाई। १९२० से १९२९ तक चीजो की पैदाइश बढ़ी, दाम घटे,

क्योंकि पैदाइश के हिसाब से सिक्कों का चलन नहीं बढ़ा। सोने की कोई नई खान नहीं निकली इसलिए सोने की उपज न बढ़ी और इसलिए सिक्कों की तंगी १९२९ के बाद महसूस होने लगी। फलस्वरूप दाम गिरने शुरू हुए। मंदीवाड़े में चीजों की उपज घटनी स्वाभाविक थी। दाम भी घटे और उपज भी घटी। यह डबल मार हुई।

एक यह प्रश्न भी उठाया जा सकता है। माना कि सिक्का दामों को मापता है और सिक्के की महँगी के कारण वर्तमान समय में इतनी मंदी है, सिक्के की बहुतायत होने से तेजी भी आ सकती है; पर क्या कोई और तरीका इस अर्थ-संकट में से निकलने का नहीं, क्या सिक्के की अवहेलना करके हम इस पाश में से नहीं निकल सकते? हाँ, यदि सिक्के की अवहेलना करें तो। किन्तु जबतक क़ानून हमपर सिक्के का साम्राज्य लादता है, तबतक हम इसकी अवहेलना नहीं कर सकते। आज सिक्का क़ानूनन हमारे जीवन की हर हरकत में गुँथा हुआ है। सिक्के का मौजूदा कार्यक्षेत्र यह है—

(१) सिक्का खरीद का साधन है। (आज हम चीजों का दाम चीजों में नहीं चुका सकते, किन्तु सिक्के में चुकाना पड़ता है।)

(२) सिक्का दामों को मापता है (जैसा कि ऊपर

बताया जा चुका है।)

(३) सिक्का धन की खान है। (संग्रह करके रखने मे या साहूकार के पास जमा रखने से।)

(४) सिक्का कर चुकाने का जरिया है। (कर्ज सिक्के में लेते है। अदा करने की जिम्मेदारी सिक्के में है। कर सिक्के में बँधा है। जिन्स में कर्ज निश्चित हो और कर भी जिन्स में चुकाया जा सके तो सिक्के की शरण न लेनी पडे।)

प्राचीन समय में इसका कार्य-क्षेत्र इतना विस्तृत नही था। उस जमाने में नौकरो की नौकरी जिन्स में चुकाई जाती थी और जिन्सो का दाम जिन्सो में चुकाया जाता था। उधार का लेन-देन भी जिन्सो में काफी हो जाता था और जमीन की मालगुजारी जिन्सो में चुकाई जाती थी। सिक्का विशेषतया धन की खान ही था, इसलिए उसका कार्य-क्षेत्र सकुचित था। पर अब वह बात नहीं रही। आपके पास लाखों मन गल्ला मौजूद हो, किन्तु जबतक उस गल्ले को सिक्के में नही बदलवा लेते तब तक न तो आप मालगुजारी अदा कर सकते है, न नौकरो की तनख्वाह चुका सकते है, न कपड़ा खरीद सकते है और न अपना कर्ज ही अदा कर सकते है। यदि किसान की मालगुजारी सिक्को में बँधी न होकर खेती की उपज में

वैसी होती तो आज उसे कोई कष्ट न होता। किन्तु वैसा नहीं है। आधुनिक सभ्यता ने हमपर सिक्के का साम्राज्य स्थापित कर दिया है। इस कारण हर चीज को दूसरी चीज से बदलने के लिए हमें पहले सिक्के की शरण लेनी पड़ती है। हमारे पास ग़ल्ला है और हमें दूसरी चीज खरीदनी है तो यह जरूरी हो जाता है कि हम ग़ल्ला बेचकर पहले सिक्का खरीदें, उसके बाद सिक्का बेचकर दूसरी चीज खरीदें। अगर क़र्ज़, वेतन या मालगुजारी चुकाना है तो हमें अपनी जिन्स को पहले सिक्के में तब-दील कर लेना होगा। इस परिस्थिति ने सिक्के का कार्य-क्षेत्र बहुत विस्तृत कर दिया है। इसके लिए अत्यधिक परिमाण में सिक्कों का चलन आवश्यक हो जाता है। और इतना विस्तृत कार्य-क्षेत्र होते हुए यदि सिक्के का चलन पूरी तादाद में न हो तो उसका नतीजा यही होगा कि सिक्का महँगा होगा और जिन्सों के दाम गिरेंगे। यों समझिए कि यदि काशी के तमाम आदमियों पर यह क़ैद लगा दी जावे कि जितनी बेर वे खाना खावें या पानी पीवें उतनी ही बेर विश्वनाथजी का दर्शन किया करें तो उसका नतीजा यही होगा कि विश्वनाथ बाबा के दर्शन के लिए बड़ी दौड़ा-दौड़ होगी। या तो ऐसी हालत में हमें विश्वनाथ को किसी ऐसी ऊँची जगह बैठाना होगा जहाँ

से विना कष्ट और विशेष प्रयत्न के सभी को दर्शन सुलभ हो और यदि हम उन्हे आज की तग गलियो में ही रखेंगे तो नतीजा यह होगा कि हर शख्स मुश्किल से भी रोज दर्शन न कर सकेगा। और उसके अर्थ यही होगे कि बहुतो को भूखा और प्यासा रहना पड़ेगा। सिक्के की आज की हालत से यह उपमा बहुत मिलती-जुलती है। हमारे आर्थिक जीवन में हर कदम पर हमें सिक्के की जरूरत पडती है और इसके कार्य-क्षेत्र की व्यापकता को देखते हुए चलने में इसकी तादाद कम है, इसलिए यह महँगा हो गया है और चीजो के दाम गिर गये हैं। हमारा कर्ज, कर, मालगुजारी, सब सिक्के मे बँधे हुए है, इसलिए ध्रुव की तरह वह अपने स्थान पर अटल है। हमारी आमद कम हुई, देना वही रहा, अर्थसकट अवश्यभावी हो गया।

यह भी जान लेना चाहिए कि जबतक सिक्के का सोने से सम्बन्ध है, इसको सस्ता करना भी आसान काम नही। सोना एक परिमित तादाद में पैदा होता है। अन्य चीजो की उपज जिस तरह से बढ़ी उसी रफ्तार से सोने की उपज नही बढ़ी। नतीजा यह हुआ कि लोगो को जब सिक्के की अधिक आवश्यकता पड़ी तब सोना इतने सिक्के नही दे सका, परिणाम यह हुआ कि सोना महँगा

हो गया और चीजें मंदी हो गईं, हालाँकि जैसे-जैसे सिक्के का कार्य-क्षेत्र बढ़ा, वैसे-वैसे उसकी तादाद बढ़ाने की कोशिश भी की गई। जहाँ सिक्का खुद नही पहुँच सका वहाँ सिक्के के प्रतिनिधि नोट इत्यादि पहुँचे, परन्तु अन्त में प्रतिनिधियों को भी सीमाबद्ध ही रखना पड़ता है। यदि एक सिक्के के बेहद प्रतिनिधि बन जायँ तो स्वभावतया सिक्के की वक़त घटेगी। इसलिए प्रतिनिधियों को भी सीमाबद्ध रखना आवश्यक हो जाता है। जहाँ सीमा का उल्लघन किया कि सिक्के की कीमत घटी और उसकी क़ीमत के घटने अर्थात् दाम के गिरने से चीजो के दाम अपने आप बढ़ते है। लड़ाई मे जब सिक्के की कमी महसूस होने लगी तब तो अमेरिका को छोड़कर अन्यान्य सभी राष्ट्रो ने सिक्के के प्रतिनिधि परिमाण से अधिक पैदा कर दिये (Inflation)। नतीजा यह हुआ कि सिक्के की इज्जत घट गई और सोने से उसका साथ छूट गया (off the gold standard) और चीजो के दाम बुरी तरह से चढ़ गये। लड़ाई के बाद सब राष्ट्रों ने सिक्के को फिर सोने के साथ बाँध कर (Reversion to the gold standard) प्रतिनिधियों को सीमाबद्ध करना शुरू किया Deflation)। और जब चीजों की उपज बढ़ने लगी और सिक्के की माँग बढ़ी और सिक्का या उसके प्रतिनिधि सब

जगह नही पहुँच पाये तब चीज़ो का दाम गिरना शुरू हुआ। सन् १९१४ में यदि हम दामो को १०० सौ की संख्या में मान लें तो इस हिसाब से भिन्न-भिन्न देशो मे घटत-बढ़त कैसी हुई होगी उसका ब्योरा इस प्रकार होगा—

	१९१४	१९२०	१९३३
इग्लैण्ड	१००	२९५	९४
अमेरिका	१००	१९७	९४
भारतवर्ष	१००	२०२	८७

अब साफ समझ मे आ जायगा कि दाम कैसे गिरे और क्यो गिरे। अब यह भी समझ मे आ जायगा कि यह आर्थिक संकट क्यो हुआ। यदि दामो के गिरने के साथ-साथ मालगुज़ारी, कर, कर्ज़, ब्याज, तनख्वाह जैसी देनदारियाँ—जिनका देना सिक्के के रूप में निश्चित है—किसी कानून द्वारा घटा दी ज़ा सकती तो यह आर्थिक संकट कभी न होता। अगर किसान को अपनी पैदावार की क़ीमत सिक्के मे कम मिलती तो साथ ही मालगुज़ारी, कर्ज़ और सूद भी कम देना पड़ता। किन्तु मालगुज़ारी, कर्ज़, सूद और तनख्वाह वगैरह सिक्को मे बँधे हुए है, इसीलिए एक ही तादाद में चुकाने पड़ते है। उधर जिन्सो की कीमत सिक्को में कम हो गई और तलपट मे घाटा पड़ना अनिवार्य हो गया, और जबतक तलपट के दोनो पासो में

फिर समानता स्थापित न की जायगी, यह आर्थिक संकट जारी ही रहेगा। जो लोग हुंडी की दर गिराना चाहते हैं, सिक्कों को सस्ता करना चाहते है, उनकी यही मंशा है।

अमेरिका, इग्लैण्ड, जापान वगैरह मुल्को ने इन वर्षों में सिक्के का सोने से सम्बन्ध-विच्छेद करके उसकी इज्जत और कीमत इसीलिए गिराई है कि चीजो के दाम चढ़े। कुछ दाम चढे भी है, परन्तु बहुत नही। बात यह है कि जबतक सिक्के के दाम इतने न गिराये जायँगे कि आवश्यकता के अनुसार सबको उसका मिलना सुलभ हो जाय, दामो का चढना असम्भव है। जो लोग हुडी की दर को १८ पेंस से १६ पेंस करना चाहते है उनसे मै सहमत नही। मेरा अपना खयाल है कि हुडी की दर इतनी ज्यादा गिरा दी जानी चाहिए और तबतक गिराते चले जाना चाहिए जबतक दाम सन् १९२६ के दामों की सतह पर न आ जायँ।

सक्षेप में इस पहेली का उत्तर यह है—

(१) सिक्का दामो की माप का एक-मात्र साधन है।

(२) चीजो की उपज बढी, परन्तु उस हिसाब से सोने या उसके प्रतिनिधियों का चलन नही बढा।

(३) इसके कारण सिक्के की तंगी हुई।

(४) फलस्वरूप दाम गिरे।

(५) किन्तु कर, कर्ज, मजदूरी और सिक्के में निश्चित देनदारी में कोई कमी नही हुई।

(६) नतीजा यह हुआ कि पैदाइश करनेवाले लोगो और कर्जदारो की, किसानो की और कलवालों की हानि हुई। चीज खरीदनेवालो, और पावनेदारो को, साहूकार, सरकार, नौकरीपेशा, जमीदार (यदि मालगुजारी पूरी आती हो तो) वैंक, बीमा कम्पनी को लाभ हुआ।

क्षतिग्रस्त लोग ही अधिक सख्या के है; इसीलिए मौजूदा हालत को 'पानी में भी मीन पियासी' कहना उपयुक्त है।

अब इस मर्ज की दवा क्या है? दवा तो है; पर सत्ता नही है। बिना सत्ता के दवा खाने को हम किसे बाध्य करे? तलपट के दोनो पासो में समानता स्थापित हो, यही उद्देश होना चाहिए। एक तरीका यह है कि हम कर्ज, मालगुजारी, वेतन, व्याज को उतने ही परिमाण में कानूनन कम कर दें जितने कि दाम गिरे है। दूसरा तरीका यह है कि हम दाम उतने ऊँचे कर दें जितने कि १९२६ के करीब थे। दूसरा ज्यादा व्यावहारिक है। पर दाम कैसे चढ़े? सिक्का सस्ता होने से। सिक्का कैसे सस्ता हो? यह विचारणीय प्रश्न है।

सिक्का सस्ता करने का एक तरीका तो यह है कि हम इसके सोने के प्रतिनिधित्व को कम कर दें। जिस समय हमारा सिक्का सोने से बँधा था (२० सितम्बर सन् १९३१ के पहले) उस समय हमारा एक रुपया ८ ४७ ग्रेन सोने का प्रतिनिधि था। १ शि० ६ पे० के विलायती सिक्के भी उतने ही ग्रेन सोने के प्रतिनिधि थे। इसी से यह कहा जाता था कि हमारे रुपये को १ शि० ६ पे० की हुंडी से बाँध रखा है। सितम्बर सन् ३१ मे जब इंग्लैण्ड के सिक्के ने सोने का साथ छोड़ा तब हमारे रुपये ने भी सोने से तो सम्बन्ध भंग कर लिया, मगर सोने को छोड़कर भी उसे स्वतन्त्रता न मिली। सरकार ने जबरन् उसका नाता स्टर्लिंग से अर्थात् अंगरेजी सिक्के से जोड़ दिया। इस समय हमारा रुपया १ शि० ६ पें० अंगरेजी सिक्के का प्रतिनिधि है। अब यदि रुपये को सस्ता बनाना हो तो क्या करना होगा ?

एक तो यह तरीका हो सकता है कि जहाँ पहले हमारे सिक्के की कीमत ८.४७ ग्रेन सोना था, वहाँ अब उसका प्रतिनिधित्व घटाकर हम उसकी कीमत केवल ४.२३ ग्रेन सोना ही रख दें। उसका नतीजा यह होगा कि सिक्के की बहुतायत होगी, इसकी कीमत स्वभावतः पहले से सस्ती होगी और चीजों के दाम चढ़ेंगे। कितने चढ़ेंगे यह

कोई नही वता सकता। इसलिए यह दवा पूरी कारगर होगी, इसका कोई निश्चय नही। और यह भी कहा जा सकता है कि दाम चढ़के फिर तो नही गिर जायँगे। इसका भी कोई निश्चय नही। सोने की नई-नई खानें तो निकलती ही नही। चीजो की उपज वढ़ने पर यदि यह सस्ता किया हुआ सिक्का भी सव जगह न पहुँच सके तो फिर दाम गिरने लगेंगे। इसलिए रामवाण औषध तो यह होगी कि सिक्के का सदा के लिए सोने से सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया जावे। सोना खाया जा सकता नही (हाँ, वैद्य और हकीम कभी-कभी औषध के रूप मे इसे खिलाते है, पर इसके ऊपर भी घी-मक्खन की जरूरत पड़ती है), पिया जा सकता नही, पहना जा सकता नही। खूवसूरती में भी यह ऐसी कौन-सी लाजवाव चीज है? फिर सिक्का सोने का ही प्रतिनिधि क्यो हो? सिक्का आटा, दाल, गेहूँ, कपड़ा, मक्खन, तेल, नमक, शक्कर का और विशेषकर कायिक परिश्रम का ही प्रतिनिधि क्यो न हो? सिक्के की कीमत मापने के लिए जहाँ हम सोने का उपयोग करते है, वहाँ हम जिन्सो का उपयोग क्यो न करे? इसके वजाय कि रुपया इतने ग्रेन सोने का प्रतिनिधि हो, यह इतने सेर गेहूँ, इतने छटाक घी, शक्कर या अन्य वस्तु का ही प्रतिनिधि क्यो न हो जाय? सोने की खानें सिक्के के चलन के लिए अपर्याप्त

हो सकती है, किन्तु जिन्सो की कमी नही हो सकती। जबतक मनुष्य रहेगे तबतक खेत रहेगे और अन्य तरह की अनेक चीजो की पैदाइश रहेगी। इसलिए सिक्के का मुवक्किल सोना न होकर जिन्स हो, तभी सिक्का सदा के लिए बहुतायत से चलन मे रह सकता है। तभी सिक्का सुलभ हो सकता है, तभी चीजो के दाम स्थिर और तलपट के दोनो पासे समान रह सकते है। अनुचित मदी और तेजी की रुकावट भी तभी रह सकती है, जब सिक्का सोने का प्रतिनिधि न होकर जिन्सो का प्रतिनिधि हो।

सक्षेप में सिक्का सोने से नाता तोडकर यदि जिन्सो का प्रतिनिधि हो तो—

(१) सिक्के की बहुतायत होगी।

(२) फल-स्वरूप चीजो की अधिक मंदी या तेजी सदा के लिए नेस्तनाबूद हो जायगी।

(३) समाज के तलपट के दोनो पासों में एक हद तक समानता होगी।

(४) इस अर्थ-सकट का एक हद तक नाश होगा। एक हद तक मैंने इसलिए कहा है कि और भी कई कारण अर्थ-सकट के है, जिनके मिटने पर ही अर्थ-सकट का पूरा खात्मा हो सकता है। किन्तु सिक्का इसमें एक प्रधान कारण है, इसके सुधार से स्थिति

बहुत कुछ सुधर सकती है।

मगर यह तो कोरी बकवास हुई। आज कौन पूछता है? असल में तो होगा वही जो होर साहब या उनके जाँनशीन चाहेंगे।

"बूट डासन ने बनाया मैंने एक मज़मूं लिखा।
मुल्क में मज़मूं न फैला और जूता चल गया।"

खैर मज़मूं ही सही।

जुलाई, १९३४.

: ८ :

राड़ की जड़ हाँसी

"तीर कमनिया तरकसबन्द। भोजराज तुम मूसरचन्द।"

ऐसा जब किसी ने भोजराज महाशय से कहा तो पता नही भोजराजजी खिलखिलाकर हँस पड़े या जूता निकाल कर मारने दौडे। मेरा तो खयाल है कि मारने दौडे होगे; क्योंकि हमारे यहाँ मजाक उड़ाना छिछोरपन है और उसे बर्दाश्त करना नामर्दी की निशानी है। इसलिए किसी दे कह दिया कि "रोग की जड़ खाँसी और राड की जड़ हाँसी"। कोई द्वेषवश अपमानित करे, या मारने को दौड़े तो झगड़ा होना समझ मे आ सकता है; पर मजाक मे भी झगड़ा हो यह भारतीय सस्कृति का दूषण ही मानना चाहिए। बाहरी देशो से आने वाले

लोग अक्सर कहा करते हैं कि भारतीय बालक भी गम्भीर मुखाकृति का होता है। फिर बड़े-बूढ़े का तो कहना ही क्या ? वे तो मानो बँधना-बोरिया बाँधकर आज शाम की ट्रेन से ही यमपुरी की यात्रा करने वाले हों, ऐसी मुखाकृति बनाकर बैठते हैं। कोई हँसता है तो बड़े-बूढ़े डांट कर कहा करते हैं—"क्या ठीठी करते हो" !

हमारे साहित्य में भी हास्य-रस की अत्यन्त कमी पाई जाती है। शान्त या गम्भीर, करुणा, शृंगार आदि रस सभी साहित्यिक ग्रन्थो में अधिकता से मिलेंगे; पर हास्यरस तो यत्र-तत्र और सो भी स्वल्प मात्रा में।

इससे इतना तो साबित हो जाता है कि भारतीय संस्कृति नें हँसने की इजाजत नही दी। इतना ही नही इसकी सख्त मुमानियत मालूम होती है। किसी सन्त नें गाया "बालपना हँस खेल गँवाया" "बालस्तावत क्रीड़ासक्त"। इसमें क्या जुर्म हुआ यदि बच्चे हँसें या खेलें ? क्या सन्त लोग यह चाहते थे कि लड़के रो-रोकर यह रट लगाया करते "जिवड़ा दो दिन का मेहमान"। जो संसार की क्षणभंगुरता का विचार करके रोते हैं, वे वैराग्यवान नहीं, कायर हैं। वैराग्य तो हमें सिखाता है, "प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धि. पर्य्यवतिष्ठते"।

कार्टून की कला योरोप में काफी विकसित हो

चली है। जिनके कार्टून छपते है वे अभिमान से मन में फूले नही समाते। "हिन्दुस्तान टाइम्स, दिल्ली" में शकर इस कला में अत्यन्त निपुण है। उसने आज तक किसी भी विशिष्ट व्यक्ति को अछूता नही छोड़ा। क्या वाइसराय और क्या दूसरे अफसर सबके कार्टून उसने बनाये और क़द्रदानी भी पायी। हर अफ़सर अपने-अपने कार्टून की कीमत दे-देकर खरीदता रहा है; पर एक मर्तबा किसी प्रतिष्ठित नेता ने मुझसे यह शिकायत की कि 'साहिब, आपका व्यंग्य-चित्रकार हमारा बड़ा मज़ाक उड़ाता है।' भविष्य के लिए उन महोदय का कार्टून बन्द कर दिया गया। इससे उल्टा यूरोप में लोग अपने कार्टून देखने के लिए बडे लालायित रहते है। यद्यपि इटली में मुसोलिनी और जर्मनी मे हिटलर इसके अपवाद है।

स्काच लोग बड़े कंजूस माने जाते है और लोग उनकी दिल्लगी भी खूब उड़ाते है। इसका प्रतिकार उन्होंने इस प्रकार किया कि वे लोग अपनी दिल्लगी खुद-ब-खुद उड़ाने लगे। किसी यहूदी ने कहा कि हम स्काच लोगों से ज्यादे कंजूस है, इस बात को स्काच साहब ने बड़े जोश के साथ अस्वीकार किया और कहने लगे कि ऐसा नही है। एक यहूदी की दूकान पर एक स्काच माल खरीदने गया था। स्काच को पहले ही सावधान कर

दिया गया था कि यहूदी दुगने दाम माँगा करता है इस-लिए मोल-मुलाई ठीक करना, ठगना मत। स्काच साहब सावधान तो थे ही। एक छाते की कीमत पूछी। यहूदी ने कहा—दश शिलिंग। इसपर स्काच साहब ने फर्माया, यह तो बहुत ज्यादा है, हम तो पाँच शिलिंग देंगे। यहूदी ने कहा–पाँच तो नहीं, पर तुम सज्जन मालूम होते हो, इसलिए छाता ८ शिलिंग में बेच दूंगा। इन्होंने तो पहले से ही गणित का मार्ग अख्तियार कर लिया था। इनसे कहा गया था कि यहूदी दूना दाम माँगा करता है, इसलिए वह जितना माँगता था स्काच साहब उससे आधा थामते थे। जब यहूदी पाँच शिलिंग पर पहुँचा तब तो स्काच महाशय २॥ शिलिंग पर उतर चुके थे। यहूदी धीरज खो बैठा और उखड़कर बोला, "तुम तो पूरे मक्खीचूस मालूम होते हो। ले जाओ यह छाता मुफ्त में"। स्काच साहब विचार में पड़ गये, मामला टेढा था, पर फिर भी गणित ने साथ दिया। झटपट उन्होंने फैसला कर लिया और बोले, "तो अच्छा एक नहीं, दो दे दो।" सुननेवाले लोग खिलखिला उठे। पर स्काच को सन्तोष हो गया कि उन्होंने अपनी जाति की कजूसी का सिक्का श्रोताओं पर जमा लिया।

इसके विपरीत एक रोज कुछ मारवाड़ी सज्जनों की सभा में एक वक्ता महाशय बड़े गर्म थे और चिल्ला-

चिल्लाकर "मारवाड़ी निंदकों" की खबर लेते थे। किसीने कोष में मारवाड़ी शब्द का अर्थ "कंजूस" और "सूदखोर" कर दिया था। यही उनके क्रोध का कारण था। मैंने श्रोताओं से कहा भी कि ऐसी चीजो को ज्यादा महत्व नही देना चाहिए; क्योंकि आयरिश (Irish), ग्रीक (Greek), स्पैनियार्ड (Spaniard), काठियावाड़ी और पठान आदि सभी शब्दों के कुछ-कुछ अर्थ बन गये है। पर श्रोताओं में तो हास्य-प्रेम की कमी थी; मारवाड़ शब्द का अर्थ कंजूस कोई कहे यह यहाँ तो असह्य था। ड्यूक आव विंडसर जब प्रिंस आव वेल्स थे तो अपने सहपाठियो के साथ रेल में साधारण बालकों की भाँति सफर करते थे। एक बार गाड़ी का कंडक्टर (Conductor) जब उनके डिब्बे के सामने से गुजरा तो जेब में से एक मटर निकालकर अंगुली से तानकर उन्होंने कंडक्टर के कान पर चुपके से दे मारी। कंडक्टर ने मुड़कर पूछा, "लड़को यह मटर किसने मारी"? किसी ने जवाब नहीं दिया तो कंडक्टर ने युवराज (Prince) के के चेहरे पर शरारत देखकर सोचा यह लड़का शैतान मालूम होता है और उन्हें दो-चार थप्पड़ जमा दिये। किसी जानकार ने कंडक्टर से कहा कि भावी सम्राट को पीटने के लिए उन्हें बधाई है। शायद कंडक्टर ने इस

घटना की अवहेलना की होगी। पर शाहजादे ने मजाक़ को मजाक मे उड़ा दिया। यदि ऐसी घटना भारत में होती तो क्या होता, इसकी सहज ही कल्पना हो सकती है।

कोई हमसे द्वेष या घृणा करता है तो हमें रोष आ सकता है; क्योकि चाहे हमारा ही ऐब हो, परन्तु हम अपने ऐब को भूलकर द्वेष करनेवाले पर रोष कर बैठते है। इसके विपरीत यदि कोई हमारी प्रशसा करता है तो हम फूलकर कुप्पा बन जाते है। हालांकि यह सोलह आना सच्ची बात है कि बडाई करनेवाला यदि सच्ची भी कहता है तो अतिशयोक्ति करता है, जो झूठ का ही दूसरा नाम है। यदि द्वेषी द्वेष से पीडित है तो चापलूस चापलूसी से। दोनो के दोनो निकम्मे है। अक्ल की कसौटी पर कसनें से दोनो त्याज्य है, फिर क्यो हम एक पर रोष करें और दूसरे पर प्रेम ? लोग धोखा खाते हैं और त्याज्य वस्तु को ग्राह्य मान बैठते है। पर मजाक करनेवाला न द्वेषी है न चापलूस और न पाखडी। कम-से-कम मजाक के बारे में यह कहा जा सकता है कि मजा-किये का दिलबहलाव के सिवा और कोई ध्येय नही है और दिलबहलाव कोई बुराई नही। यदि आपकी तोद मोटी है और आप रपटकर चारो खानें चित्त पड़ते या बीबी के हाथों से झाडू खाते देख लियें जाते है और

दर्शकों को यह दृश्य हँसी का लगता है तो बेचारों को हँसने दीजिए और आप भी हँसकर उन्हें सहयोग दीजिए। इसमें दोनों का भला है। रोग की जड़ चाहे खाँसी हो—यद्यपि मैं तो मानता हूँ कि रोग की जड़ ज्यादा खाना है—पर झगड़े की जड़ "हाँसी" को बताना यह कोरी मूर्खता है।

बसन्तपंचमी सं० १९९४

: ६ :

हीरा

वैसे तो मेरे जन्म के क़रीब पैंतीस साल पहले से हीरा हमारे यहाँ नौकर था, पर जब मैं तीन साल का हुआ तभी से मैं उसे पहचानने लगा। शायद इससे भी पहले मैं उसे पहचानने लगा होऊँ, पर उसकी आज मुझे कोई स्मृति नही है। इस हिसाब से मेरे लिए तो हीरा का जन्म उसी समय हुआ, जबकि मैं तीन साल का था हालाँकि हीरा मुझसे करीब ५२ वर्ष बडा था।

तो हीरा को जब मैंने पहले-पहल जाना उस समय मुझपर उसकी क्या छाप पड़ी यह बताना मेरे लिए टेढ़ा काम है। पर प्रयत्न करता हूँ तो मुझे फिर एक मर्तबा उस सुदूर और धुंधले अतीत में प्रवेश करना पड़ता है और

प्रवेश करने पर मुझे लगता है कि मैं एक ऐसे स्थान में पहुँच गया हूँ जहाँ चारों ओर केवल कुहरा-ही-कुहरा है। दस क़दम के बाद तो—यदि हम काल को भी कदम से नापें तो—एक ऐसा गाढ़ पर स्वच्छ और धवल अंधकार है जो लाख कोशिश करने पर भी हमारे स्थूल और सूक्ष्म चक्षुओं को बिल्कुल अंधे बनाये रखता है। पर यदि हम एक क़दम भी आगे देखनें का प्रयत्न करे तो सिवाय धुंधलेपन के और कोई चीज नजर नही आती। जो चीज़ सामने—अत्यन्त सामने—खड़ी है उसे भी—जैसी है वैसी देखने के लिए—आँखें फाड़-फाड़कर एक टक देखता हूँ तो भी, उसकी रूपरेखा स्पष्ट नही दिखाई देती। ऐसे उस सुदूर अतीत में दृष्टि बेकार बन जाती है।

पर जो चित्र आँखों पर उस समय खिंच गया है वह एक ऐसे फोटू की तरह है जो किसी अनाड़ी चित्रकार ने खेंचा हो और जिसे खेचने में न तो उस चित्रकार ने कैमरे की दृष्टि को ठीक एकाग्र (Focusing) किया हो और न रोशनी ही (Exposure) सही दी हो। हम लाख उस चित्र की रूपरेखा दुरुस्त करने की कोशिश करें, पर हमें उसमें कामयाबी नहीं होती। उस अतीत काल की स्मृति की एक ऐसे सपने से भी तुलना की जा सकती है जो जिस समय आता है उस समय तो साफ़-सुथरा—सामने मानो नाटक

खेला जाता हो और उस नाटक में हम भी अभिनय करते हो—ऐसा लगता है, पर आंखें खुलते ही स्मृति फीकी पड़नें लगती है। और जब हम संसार के कोलाहल और दिन की धक्कामुक्की में फंस जाते हैं तब तो वह चित्र हमारी आंखो से बिल्कुल ग़ायब हो जाता है।

बाल्यकाल के कच्चे दिमाग़ पर खिचा हीरा का वह धुंवला सा चित्र। रूपरेखा सारी अस्पष्ट। और ऊपर से समय की रफ्तार की घिसावट।

समय की रफ्तार तो मानो रातदिन का अविच्छिन्न प्रपात। जिसने रही-सही रूपरेखाओ को और भी भूँठी बना दिया। पर हीरा का चित्र तो फिर भी सामने खड़ा ही रहा। और जो चित्र पहले-पहल अस्पष्ट रूप से दिमाग़ के पटल पर पड़ा वह फिर, ज्यों-ज्यो पटल-चित्र आगे चला, स्पष्ट बनता गया। और बाद के चित्र ने पहले के चित्र की रूपरेखाओं को स्पप्ट करने मे सहायता पहुँचाई। इस तरह हीरा का चित्र सुस्पष्ट बन गया।

मै बता चुका कि हीरा जब उसे मैंने पहले-पहल जाना तबतक ५२ साल का हो चुका था और करीब पैंतीस साल हमारे यहाँ नौकरी करते भी उसे हो गये थे। मैंने बाद में सुना कि हीरा के माँ-बाप उसके अत्यन्त बचपन में ही मर गये थे और वह बचपन से ही हमारे यहाँ आकर

नौकरी करने लगा था। हीरा को अपनें बाल्यकाल की कोई स्मति नही थी पर उसका खयाल था कि उसके माँ-बाप सवत् १९०० के भयंकर दुर्भिक्ष में बिना अन्न के भूख के मारे मर गये थे।

संवत् १९०० और १९०१ ये दोनों साल अत्यन्त भीषण दुर्भिक्ष के थे। सुना है इन दोनों सालों में राजपूताना में लाखों मनुष्य विना रोटी कुत्ते की मौत मर गये। चूंकि ये दोनो दुर्भिक्ष एक के वाद एक सटे आये इसलिए लोगो ने इनका नाम "सैया" और "भैया" रखा। संवत् १९०० के दुर्भिक्ष का नाम पड़ा "सैया" और संवत् १९०१ के दुर्भिक्ष का नाम पड़ा "भैया"। इनकी भीषणता का खयाल दिलाने के लिए लोग आज भी पुरानी गीतिका "चाकी चाले रे सैया, माणस बोले रे भैया" गाते है। अर्थात् सैया और भैया की भीषणता के वाद "चक्की चलती है या तो मनुष्य अब भी वोल रहे हैं" ऐसा कथन भी आश्चर्यकारक माना गया। हीरा का खयाल था कि इन्ही अकालों में उसके माँ-वाप मर गये।

और सुना कि हीरा की नौकरी पहले-पहल केवल एक रुपया माहवार मात्र थी। पर जब मैंने उसे जाना तब तो एक रुपया, और खाने को रोटी और पहनने को कपड़ा भी मिलने लगा था। शादी तो हीरा ने की ही नही। माँ-

बाप थे ही नहीं। इसलिए हमारे कुटुम्ब को छोड़कर हीरा के लिए और कोई ममत्व का स्थान नही रह गया था। हमारे कुटुम्ब को ही उसने आश्रय का स्थान माना और अंत तक ऐसे ही मानता रहा।

जब मैंने पहले-पहल हीरा को देखा तब वह साठी के नज़दीक पहुँच रहा था। बाल उसके किरडकाबरे हो चले थे। पर हीरा के मन में बुढापे ने प्रवेश नही किया था। उसे अपने व्यक्तित्व का तो अभिमान था ही, उत्साह, उमंग और आशा की भी उसमें कमी नही थी।

हमारे यहाँ उस जमाने में दो ऊँट थे। अकस्मात् प्राय एक ऊँट काले रंग का रहता था और एक सफेद रग का। काले को हम लोग काळिया ऊँट और सफेद को घोळिया ऊँट कहते थे। हीरा का ऊँटो का प्यार यह वर्णनातीत वस्तु है। उसकी थाह तो हीरा को ऊँटो की सार-सम्हाल करते जिन्होने देखा है वे ही जानते है। पर मैंने यह देखा कि उन दो ऊँटों में हीरा का ममत्व घोळिये पर ज्यादा रहा करता था। इसका कारण भी था। घोळिया ऊँट, और यह भी अकस्मात्, प्राय: तेजस्वी और आकरे स्वभाव का होता था। और हीरा को इसका खूब गर्व था। क्योकि ऐसे ऊँट हर टोले में नही जन्मते थे। हीरा का ऊँट और ऊँटो से कुछ भिन्न है, उसकी अपनी अलग शान है, यह प्रकट

करने में हीरा कभी नहीं चूकता था। इसलिए वह जब ऊँट पर सवार होता था तो बेतकल्लुफी से नहीं। शायद उसने माना हो कि ऐसा करना यह मोळिये जैसे प्रतिष्ठित ऊँट के लिए अपमान होगा। इसलिए ऊँट पर चढ़ने से पहले गाढे का पाजामा, और नैनसुख की, और यदि जाड़े का मौसिम हो तो रूईदार, कमरी, पाँवो में चोबदार जरी की मोचड़ी, एक पाँव में चाँदी का छैलकडा और ताँती, कमर में तलवार और बगल में सीगसाज—इन सब चीज़ों से सिंगर कर ही हीरा ऊँट पर चढता था। और सीगसाज भी पूरे दुरुस्त। कूँपी मे बारूद, बटुए में पटाखा और दूसरे बटुए में शीशे की दस बीस गोलियाँ। बदूक भरी। सिर्फ दागने भर की देर। दाढ़ी बीच में फाँटकर, आधी एक कान पर से और आधी दूसरे कान पर से, और कान के इर्दगिर्द अढ़ाई आँटे (यह माप भी हीरा ने बतलायी थी) देकर बँधी हुई। कानों में सोने की बीरबळी और गले मे हनुमानजी की मूर्त्ति की सोने की तल्ती। दाढ़ी पर जाड़िया। सिर पर साफा। और साफे पर चद्दर का दुमाला मारे हुए।

इस साजबाज के साथ हीरा की शक्ल एक योद्धा की सी लगनी चाहिए थी। पर अफ़सोस ! हीरा का कद ठिगना था। शरीर हल्का। इसलिए लाख कोशिश करने पर भी

हीरा जरासा "माणस" लगता था। और ऊपर से यह दूसरा अफसोस कि हीरा राजपूत न था!! जाट था। हीरा अपनी जात को बाहर अनजाने लोगो के सामने छिपाता भी था। पर लोग ताड़ जाते थे। इसका हीरा को दुःख था। पर तो भी अपनी शान बताने में हीरा को कभी आलस्य नहीं होता था। और इस वेशभूषा से सजने का भी शायद यही कारण था कि हीरा अपने गर्व को छिपाना नही चाहता था। पर एक बात का हीरा का गर्व बिल्कुल सही था। उसके पास ऐसा ऊँट था—और विशेष-कर के धोळिया ऊँट—जैसा चोखळे भर में ढिंढोरा फेरने से भी मिलना असम्भव था। इसलिए हीरा जब ऊँट पर चढता था तब वह सातवें आसमान में पहुँच जाता था।

वैसे तो धोळिया ऊँट हजारो में भी नही छिप सकता था। पर ऊँट की ख्याति छिपी न रह जाय इसके लिए हीरा अहर्निश सावधान रहता था। इसलिए जब ऊँट पर चढने का समय आता था तब तो हीरा के लिए सवारी एक असाधारण कृत्य बन जाता था। ऊँट की गोडी बाँध कर जब वह कूँची कसनें की तैयारी करता था तो पहले ऊँट का मिजाज गरम करने के लिए वह ऊँट पर दो बेंत जोर से फटकार ही देता था। बस इतना किया कि ऊँट ने शुरू किया अरड़ाना। यह तो मानो लोगों को इकट्ठा

करने का आह्वान था। सटक-सटक काम छोड़-छोड़कर लोग हीरा के इर्द-गिर्द आ जमते थे। क्योंकि हीरा का ऊँट पर चढ़ना यह एक देखने लायक दृश्य होता था। ऊँट भी तो लाजवाब था। ऊँट की पीठ पर पान कटे हुए। उसके पहनने को नया मोहरा और बेलचा। उसके गले में कौड़ियो की पट्टी। नाकों मे चाँदी की वाली और गिरबाण। कूँची के थड़े बनाती। पागड़े पीतल के, ऊपर लाल मजीठ की खोली चढी हुई। पूँछ बँधी हुई। कूँची पर सफ़ेद स्वच्छ गद्दी।

इस शान का ऊँट। और वह शान हीरे की। और ऊपर से वह सजावट।

जब कूँची माँडी जा चुकती थी तब हीरा ऊँट को ठोकर मारकर खड़ा करता था। इसपर तो ऊँट और भी उग्र हो उठता था। अरडाना तो जोरों के साथ जारी था ही। उधर मीगणे और तरड़ा फेंकना भी बेतरह शुरू हो जाता था। होहल्ला सुनके गाँव के और भी लड़के आ जमते थे। यह सब क्रिया हो चुकने पर हीरा ऊँट को गाँव के बाहर ले जाकर सवार होता था। एक आदमी ऊँट की गोडी दबाकर हीरा को सवारी करने में सहायता देता था। हीरा सवार हुआ कि ऊँट फलाँग मार कर जोर से उछलता था।

उस समय हीरा का अभिनय तो कमाल का था। एक तरफ तो ऊँट को मानो वह किसी जिद्दी, अडियल, उग्र लड़के को शांत करता हो, इस तरह प्यार से सम्बोधन करता था। दूसरी ओर नकेल खेंच कर ऊँट को रोकता था। तो तीसरी ओर ऊँट को छिपी ठोकर मार कर उसे दौड़ने के लिए उकसाता था। इन तीन परस्पर विरोधी क्रियाओ का ऊँट पर तो एक ही असर पड़ता था। आखिर ऊँट तो पशु ठहरा, और सो भी गँवार पशु। तो फिर हीरा के दुलार के सम्बोधन को ग्रहण करना उसके मस्तिष्क के बित्ते के बाहर की बात थी। हीरा इसे शायद जानता भी था, पर हीरा की भाषा तो दर्शकों के लिए थी, और ठोकर ऊँट के लिए। मोहरी खेंचने का तात्पर्य यह था कि लोग समझे कि ऊँट हीरा के लाख शान्त करने पर भी उड़ जाना चाहता है और हीरा जैसा उस्ताद चाबुक-सवार ही इसकी पीठ पर टिक सकता है।

पर इसके माने यह नही कि हीरा कोई साधारण सवार था, या तो उसका ऊँट कोई साधारण ऊँट था। क्योंकि हीरा ने कई बेर सुबह से शाम तक साठ कोस की मंजिल आसानी से तय की थी।

और जितनी हीरा की चाबुक सवारी, उतना ही उसका भूगोल का ज्ञान। हीरा दो-चार मर्तबा तो पिलाणी

से अहमदाबाद तक ऊँटपर ही जा चुका था । पर दो बेर जाने मात्र से तो किसी को रास्ते का पूरा ज्ञान नही हो जाता । पर हीरा की यह खूबी थी कि पिलाणी से अहमदाबाद पहुँचने में कौन-कौन से गाँव से गुजरना पड़ता है, यह सब भूगोल सविस्तर पचास साल के बाद भी, उसकी जीभ के अग्रभाग पर जमा पड़ा था । सौ-सवा सौ कोस की परिधि में तो ऐसा कोई शहर या गाँव नही जिसके पहुँचने के रास्ते का ज्ञान हीरा को न हो । "यहाँ से दो कोस पर फलाँ गाँव, उसे बाँये छोड़ देना । फिर फलाँ जोहड़ आ जायगा । उसके बाद एक कुँआ, फिर एक ऊँची भर..." यह हीरा का रास्ते बताने का तरीका था । हीरा जहाँ नही गया वहाँ उसने सुनकर उस स्थान का भूगोल जिह्वाग्र कर लिया था । इसी तरह हीरा बहुश्रुत भी बन गया था ।

पर हीरा के दिल में एक तमन्ना थी । उस जमाने में चोर-धाड़ियो का खूब उपद्रव था । हीरा चाहता था कि कभी उसकी धाड़ियो से मुठभेड़ हो । हीरा का ऊँट तो हवा से बातें करनेवाला था ही । उसकी बन्दूक भी हाजिर-जवाब । घोड़ा दबाने भर की देर थी । लोग कहते थे कि हीरा का शरीर चाहे छोटा हो पर उसकी बंदूक कभी धोखा नही देगी । हीरा का दावा यह था कि वह एक चुस्त निशानेबाज है । पर उसने निशाने मारने के लिए एक

बड़े घड़े से—जो २–३ फीट लम्बा चौडा हो—छोटे निशान का कभी उपयोग नही किया। और हीरा निशाना मारने के लिए भी तो १०–१५ कदम पर ही बैठता था। और जब गोली की चोट से घडा चूर-चूर होजाता था तब तो हीरा मुलकता हुआ उठकर सब की तरफ गर्व से ताकता था मानो कहता हो "बताओ है कोई ऐसा निशानेबाज ?'

और एक दिन कुछ बदूकचियो से उसने बाजी मार भी ली। हीरा ने अपने साथियो को ललकार दी कि निकाले कोई लोहे के कडाहे में से गोली। यह करतब न तो निशाने की अचूकता का द्योतक था न हीरा की ताकत का प्रमाण। पर लागो ने इस चुनौती को झेला। दगल में हीरा की गोली तो दनदनाती हुई लोहे के कडाहे को छेक गयी। औरो की गोलियाँ चिपटी होकर कडाहे से टकरा कर गिर गयी। प्रतिपक्षियो के चेहरे उतर गये। हीरा की छाती फूलकर सवागज चौडी हो गयी। कहनेवालो ने हीरा के विरुद्ध विश्लेषण करने की कोशिश की पर इतना तो साबित हो गया कि हीरा की बदूक पूरी फरमाबरदार है और मौके पर काम देगी। हीरा में आत्मविश्वास की कमी तो थी ही नही। ऊँट और बदूक इन दो के जोर पर हीरा यह मिन्नते मनाता था कि उसे डाकू मिले। और अत में

डाकू मिले भी। पर हीरा की हार हुई। पर जिन दो चीज़ों पर हीरा का विश्वास था उन्होने दगा नही दिया गीता मे कहा है :—

"अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैव चैवात्र पञ्चमम्॥"

हर काम में क्षेत्र, कर्त्ता, भिन्न-भिन्न क्रियाएँ, और पाँचवाँ दैव, ये पाँच हेतु होते हैं। मालूम होता है कि इन साधनों मे से कइयों ने तो हीरा के खिलाफ षड्यंत्र ही कर लिया था कि उसका मान-मर्दन हो।

बात थी भिवानी के रास्ते की। कलकत्ते से एक सज्जन आ रहे थे जो बीमार थे। उन दिनो पिलाणी का रेलवे स्टेशन था भिवानी। ये सज्जन भिवानी उतरनेवाले थे और वहाँ से उन्हे पिलाणी आना था। हीरा को भेजा गया उन्हे भिवानी से पिलाणी ले आने के लिए। भिवानी ठहरा अंग्रेजी इलाके में। इसलिए बिना पास कोई हथियार नहीं ले जा सकता था। हीरा ने लाख कोशिश की कि बंदूक का पास मँगा लिया जाय। पर सब लोगो ने कह दिया "क्या डर है, ऐसे ही चले जाओ।" बंदूक हीरा की विश्वस्त संगिनी थी। वह उसे छोड़कर अकेला नही जाना चाहता था। पर लाचारी।

हीरा बिना बन्दूक के गया सही, पर उसका मन

उन्मना था। हीरा ने पीछे बताया कि जब वह सवार होकर भिवानी की ओर चला तब रास्ते में उसे बिना तिलक-छापवाला ब्राह्मण मिला। खुले केशवाली स्त्री, सो भी विधवा, मिली। घडेवाले के पास घड़ा रीता था। सोनचिडी बाँएँ आ बैठी, गदहा दाहिना बोला। हरिन दाहिने से बाँएँ की ओर निकल गया। और एक सुनार भी तो मिला!! पर कर्तव्यवश हीरा ने इन सबकी अवहेलना की।

हीरा भिवानी पहुँचा और उन सज्जन को सुबह गब्बरदम ऊँट पर पिछले आसन पर बैठाके पिलाणी की ओर चला। हीरा का कहना था कि भिवानी से चला तब भी सारे अपशकुन हुए और बाँयाँ अग भी फड़का। सुबह पौ फटते-फटते तो हीरा इन्दोखळे जोहड़े के पास पहुँचा और उसने देखा कि सात ऊँट, उन पर चौदह जवान, सबके पास बड़े-बड़े लट्ठ, हीरा के ऊँट को चारो ओर से घेर रहे है। हीरा ने देख लिया कि दाल में काला है। पर तो भी उसने ललकारकर डाकुओ से कहा: "भाई के लालो, मन्शा तुम्हारी खराब मालूम होती है।" उन्होने कहा: "हमारे ऊँट खो गये है। उनकी खोजों के पीछे हम आये हैं।" हीरा को विश्वास नही हुआ। पिछले आसन पर बैठे सज्जन से हीरा ने कहा. "भरोसा एक ही है वह है

मेरा ऊँट । एड मारने भर की देर है, फिर तो ऊँट उडेगा। आप सावधान होकर मेरी पीठ से चिपक जाइए और मैं ऊँट को टिचकारी देता हूँ । इस ऊँट को कोई नही पहुँच सकता ।" पर पीछेवाले सज्जन ने कहा : "हीरजी, मैं इतना बीमार हूँ कि ऊँट ने जरा तेजी दिखाई कि मै घम से नीचे गिरूँगा । इसलिए मेरे प्राण जायँ इससे तो बेहतर है कि हम लुट जायँ ।"

हीरा ने देख लिया कि बस होनहार बलवान है। उसने अपना लट्ठ सम्हाला। ऊँट पर से कूदा और ललकारा डाकुओ को ही। हीरा का बित्ता ही क्या था ! छोटा-सा शरीर । उसने लाठी का वार किया एक दो लाठी चलाई भी, पर दो-एक लट्ठ हीरा के सर पर लगे कि हीरा जमीदोज हो गया । डाकू ऊँट ले गये ।

हीरा के सदमे का क्या ठिकाना ? बदूक पीछे रह गई । ऊँट धाड़ी ले गये ।

जब तक हीरा जिन्दा रहा तब तक इस रासे को वीर और करुणा मे वर्णन करता ही रहा। इस कथा को कहते-कहते हीरा रो भी देता था । पर वह कभी थकता न था। क्या तमन्ना थी और कैसा हुआ अंत ! हीरा का दिल टूक-टूक हो गया । हीरा फिर भी ऊँटो पर चढ़ा । बदूक भी लटकाई । पर उसका दिल तो टूट चुका था। लोग

भी तो ताना मारने से कहाँ बाज आते थे ? पर हीरा को रह-रह कर यह पछतावा होता था "मैने बन्दूक साथ क्यो न ली ? मैने ऊँट को टिचकारी क्यो न दी ?"

इसके बाद हीरा कुछ ही साल और ऊँट पर चढ़ा । वैसे भी साठी पार कर चुका था । और ऊपर से यह प्रतिष्ठा का भग । इस घटना के बाद भी ऊँटो पर कई वेर वह भिवानी गया आया । पर उदासी के साथ । जब जब वह इन्दोखळे जोहड़े मे से निकलता था तो अपना बखान करते-करते वह रो देता था । वह लाख लोगों को समझावे पर हीरा ने शिकस्त खाई, इस कथना को कौन मेट सकता था ? हीरा कवि न था, पर इन्दोखळे जोहड़े की तरफ मुहँ करते ही उसका दिल कह देता था —

मत नाव उधर ले जा मांझी, उस घाट को मै पहचानता हूँ ।
फूँकी थी वहीं पर मंने चिता, अपनी मरहूम तमन्ना को ॥

हीरा ने समझ लिया कि अब ऊँटों की सवारी मे कोई लुत्फ नही । और हीरा ऐसा आदमी भी नही जो अपने क्षेत्र मे स्वल्प श्रेष्ठ होकर रहे । वह तो था गर्वीला । सर्वश्रेष्ठ होकर ही रहना चाहता था । "अबतक तो जिस जमीं पर रहे आसमां रहे ।" इसलिए हीरा ने अब अपना क्षेत्र बदलना निश्चय किया । धीरे-धीरे उसने ऊटो का ममत्व और जिम्मा छोड़ दिया । एक रोज अचानक देखा

गया कि हीरा ने दाढ़ी और पट्टे दोनों सफ़ा करवा डाले। धीरे-धीरे उसने योद्धा का स्वाग छोड़ना शुरू कर दिया।

हीरा था बड़ा मितव्ययी। साठी पार करने तक तो उसके पास पाँच सौ की पूँजी जुट गई थी। एक रुपया माहवार की आमद पर भी वह पूंजीपति बन गया था। पर हीरा दिल का भी तो था शार्दूल। इसलिए उसने अब अपना खजाना खाली करने का प्रण कर लिया। कान की बीरबळी और पाँव के चाँदी के कड़ों से उसने दान का श्रीगणेश किया। फिर तो धीरे-धीरे अपनी और पूँजी भी लुटाने लगा और अन्त में उसने अपना सारा कोष खाली कर दिया। पर इस बीच में तो हीरा की नौकरी १ रुपया माहवार से २ रुपया माहवार हो गई। और इनाम भी समय-समय पर मिलता था। इसलिए हीरा फिर पूँजीपति बनने लगा। पर हीरा की तमन्ना अब केवल इतनी ही थी। वह थी कर्ण-सा दानी बनने की। हीरा की व्यवस्था और मितव्ययता इस आला दरजे की थी कि उसके पास पचास साल पहले के अपने कपड़े, कम्बल, चद्दर, अंगरखी, इनाम में पाया हुआ शाल, हाथों की सोने की चूड़—ये सब चीजे ज्यों की त्यों मौजूद थीं। पचास साल पहले के दो एक बेंत भी ज्यो के त्यों सुरक्षित थे।

हीरा के रहने की एक कोठरी थी जिसे हम लोग

हीरा की कोठरी कहते थे। उस कोठरी की लम्बाई ६ फीट, चौडाई ३ फीट और ऊँचाई कुल ६ फीट थी। जगह का अभाव न था, पर हीरा ने इसी कोठरी को अपना स्थायी स्थान बनाया। और यह कोठरी क्या थी, गागर में सागर था। व्यवस्था का एक जीता-जागता चित्र था। इस कोठरी मे खूँटियो पर बाकायदा हीरा के हथियार लटकते रहते थे। एक खटिया थी। उसके नीचे हीरे के तमाम कपडे, उसकी तमाम पोशाके थी। न मालूम और कितना सामान था। हीरा ने धीरे-धीरे अब अपनी तमाम पुरानी चीजो का भी दान करना शुरू कर दिया। और एक-एक करके हीरा ने अपने कपडो की बुगची में से सब कपड़ो को वितरित कर दिया। सोने की तख्ती भी दान में दे डाली। अब हीरा के पास केवल पहनने भर के कपडे रह गये।

इतना हुआ पर हीरा की सजावट में कोई फर्क नही आया। पहले योद्धा का स्वांग सजता था और अब साधारण नागरिक का। पर वही पुरानी स्वच्छता, वही दिन में दो बार नहाना, वही दो बार कपड़े बदलना। कपड़े धोने की कला तो हीरा को हस्तामलकवत् थी। इसलिए सफाई में हीरा से कोई बाजी मार ही नहीं सकता था। धुलाई में उसकी शोहरत यहाँ तक फैल गयी

थी कि जब कोई बेशकीमती शाल धुलाना होता तो वह हीरा के सुपुर्द किया जाता था।

तो हीरा ने फिर दूसरी बार कोष खाली करना शुरू किया और अन्त में सब कुछ दे ही तो डाला।

बुढापा तो आता ही जाता था। अब तो हीरा ने सत्तर पार कर लिया था। आखो की ज्योति कम हो चली थी। हीरा ने अब माला हाथ मे ले ली। पर शाम को जब टहलने निकलता था तब कुछ तो सजावट रहती ही थी, हाथ में माला और बेंत भी रहते थे। कधे पर एक स्वच्छ गमछा। दूसरे कधे पर, गर्मियो मे, धुली हुई कमरी पडी रहती थी जो यह बताती थी कि हीरा के पास कमरी है पर गर्मी की वजह से वह उसे पहनता नही है।

हीरा की पूंजी फिर बढ़ने लगी और दान भी बढ़ने लगा। दिन बीतते जा रहे थे। अब हीरा अस्सी पार कर गया। शक्ति धीरे-धीरे घटती जा रही थी।

उन दिनो की जब मै याद करता हूं तो हीरा का एक ही चित्र मेरी आँखो के सामने आता है। स्वच्छ कपड़े पहने, हाथ में माला लिये, हीरा हवेली के गोखे पर बैठा है और राम राम कर रहा है। हीरा का अब किसी चीज़ में ममत्व नही रहा। पर इन्दोखळे जोहड़े की धाड को हीरा भूल नहीं सका। और न वह भूला धोळिये ऊँट को। यदि कोई

इसकी चर्चा कर देता था तो हीरा एक बेर माला को ताक पर रखकर उस पुराने रासे को रस के साथ वर्णन करते-करते उसमे तल्लीन हो जाता था। पर इस चर्चा को छोड उसे और कोई चीज़ में ममत्व नही रहा। और माला तो उसकी दिन रात चलती ही थी। अब हीरा ने देख लिया कि अंत आगया। ऊँटों की कई यात्रायें हीरा ने की थी। अब उसकी जीवन-यात्रा का भी अंत हो चला था ऐसा जानने में हीरा को कोई कठिनाई नही हुई। चौरासी साल तक हीरा ने अपने भौतिक शरीर में वास किया। एक दिन हीरा ने अपना जीवित श्राद्ध करके फिर तीसरी बेर अपना कोष खाली कर दिया और उसके कुछ ही दिन बाद चल बसा।

क्या शान की ज़िन्दगी हीरा ने बसर की! हीरा का न कोई रासा है, न कोई महाभारत है। पर हीरा का शौर्य किस वीर से कम रहा? अभिमन्यु की शोहरत इसलिए फैली कि वह अकेला व्यूह मे घुस गया और वीरोचित मृत्यु का उसने आलिंगन किया। पर हीरा भी तो अकेला चौदह से लड़ा। यदि जीता नही तो इसमें हीरा का क्या दोष?

और दान में भी तो कर्ण से क्यो कम? कर्ण का महाभारत में बड़ा स्थान है। और हीरा का कोई ग्रंथ नही बना इसी बुनियाद पर हीरा परख में कम नही उतर

सकता। तीन बार हीरा ने अपना खजाना खाली कर दिया। यह उदारता कर्ण से किस बात मे कम उतरती थी ? और हीरा की वफ़ादारी तो लाजवाब। बड़े-बड़े श्लोकों से भरे ग्रथो से चौंधिया जाने से यदि हम इन्कार करे तो मे कहूँगा कि हीरा का शौर्य, उसकी दान-शूरता और उसकी वफ़ादारी बेमिसाल चीजे है।

हीरा मर गया। उसकी छोटी-सी स्मृति हरपाणे जोहड़े में एक कूई और एक कोठरी के रूप में आज भी खड़ी है। बडे-बड़े स्मारको के सामने यह तुच्छ यादगार नाचीज है। पर इसके पीछे जो शान है उसकी भी तो कोई वकत है ? यदि इस यादगार में जिन्दा जबान होती तो वह कह उठती :

"यहाँ सोता है एक तुच्छ प्राणी
जिसका शरीर था रूपे का,
जिसका सर था सोने का,
और जिसका दिल था हीरे का।"

जनवरी १९४१